॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

सप्तमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans.-Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ
१००० पुस्तकानि } संवत् १९७३ वि०
सन् १९१६ ई० { मूल्यम् २।)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥"

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे पुस्तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५–भावार्थ, ६–आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७–प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७				पृष्ठ १६०१ लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)				१३।)

काण्ड ८—छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

२५ सितम्बर १९१६
ओंकार प्रेस, प्रयाग।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad).

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ७ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	धीती वा ये अनयन्	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
२	अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं	अथर्वा वा प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
३	अया विष्ठा जनयन्	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	त्रिष्टुप्
४	एकया च दशभिश्चा	प्रजापति वा वायु	ब्रह्म के ज्ञान	त्रिष्टुप्
५	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप् आदि
६	अदिति र्द्यौरदिति	अदिति	प्रकृति आदि के गुण	त्रिष्टुप् आदि
७	दितेः पुत्राणामदिते	देवा	विद्वानों के गुण	जगती
८	भद्रादधि श्रेयः प्रेहि	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती
९	प्रपथे पथामजनिष्ट	पूषा	परमेश्वर की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
१०	यस्ते स्तनः शशयुर्यो	सरस्वती	सरस्वती के विषय	त्रिष्टुप्
११	यस्ते पृथुस्तनयित्नुर्य	पर्जन्य	अन्न की रक्षा	त्रिष्टुप्
१२	सभा च मा समिति-श्चावतां	सभापति	सभापति के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	यथा सूर्यो नक्षत्राणा	आत्मा	शत्रुओं को हराना	अनुष्टुप्
१४	अभित्यं देवं सवितार	सविता	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१५	तां सवितः सत्यसवां	सविता	आचार्य, ब्रह्मचारी	त्रिष्टुप्
१६	बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं	विश्वे देवा	राजा के धर्म	त्रिष्टुप्
१७	धाता दधातु नो रयि	धाता	गृहस्थ के कर्म	गायत्री आदि
१८	प्र नभस्व पृथिवि	प्रजापति	दूरदर्शी होना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१९	प्रजापतिर्जनयति प्रजा	प्रजापति	वृद्धि करना	जगती
२०	अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं	अनुमति	मनुष्यों के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
२१	समेत विश्वे वचसापतिं	विश्वे देवा	ईश्वर की आज्ञा	जगती
२२	अयं सहस्रमा नो दृशे	परमेश्वर	विज्ञान की प्राप्ति	अक्षर पंक्ति आदि
२३	दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं	प्रजा	राजा के धर्म	अनुष्टुप्
२४	यन्न इन्द्रो अखनद्	सविता	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
२५	ययो रोजसा स्कभिता	विष्णु, वरुण	राजा, मन्त्री के धर्म	त्रिष्टुप्
२६	विष्णोर्नु कं प्रावोचं	विष्णु	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप् आदि
२७	इडैवास्माँ अनुवस्तां	इडा	विद्या प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२८	वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः	विश्वे देवा	यज्ञ करना	त्रिष्टुप्
२९	अग्नाविष्णू महि तद्	अग्नि, विष्णु	बिजुली और सूर्य	त्रिष्टुप्
३०	स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी	विश्वे देवा	शुभ कर्म करना	अनुष्टुप्
३१	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप्
३२	उप प्रियं पनिप्नतं	इन्द्र	राजा और प्रजा	अनुष्टुप्
३३	सं मा सिञ्चन्तु मरुतः	विश्वे देवा	सब सम्पत्तियां बढ़ाना	पंक्ति
३४	अग्ने जातान् प्रणुदा	अग्नि	राजा, राजपुरुष	त्रिष्टुप्
३५	प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा	जातवेदा	राजा प्रजा का कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३६	अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे	मित्र	परस्पर मित्रता	अनुष्टुप्
३७	अभि त्वा मनुजातेन	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३८	इदं खनामि भेषजं	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३९	दिव्यं सुपर्णं पयसं	सुपर्ण, सूर्य	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	यस्य व्रतं पशवो	सरस्वान्	ईश्वर की उपासना	त्रिष्टुप्
४१	अति धन्वान्यत्यप	श्येन	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
४२	सोमारुद्रा वि वृहतं	सोम, रुद्र	राजा और वैद्य	त्रिष्टुप्
४३	शिवास्त एका अशिवास्त	वाक्	कल्याणी वाणी	त्रिष्टुप्
४४	उभा जिग्यथुर्नपरा	इन्द्र, विष्णु	सभा और सेना के स्वामी	त्रिष्टुप्
४५	जनाद् विश्वजनीनात्	भेषज	ईर्ष्या दोष निवारण	अनुष्टुप्
४६	सिनीवाली पृथुष्टुके	सिनीवाली	स्त्रियों के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
४७	कुहूं देवीं सुकृतं	कुहू	स्त्रियों के गुण	त्रिष्टुप्
४८	राकामहं सुहवा सुष्टुती	राका	स्त्रियों के कर्त्तव्य	जगती
४९	देवानां पत्नी रुशती	देवपत्नी	राजा के समान रानी	जगती, पंक्ति
५०	यथा वृक्षमशनिर्	इन्द्र, आत्मा	मनुष्य के कर्त्तव्य	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप
५१	बृहस्पतिर्नः परिपातु	इन्द्र	पराक्रम करना	त्रिष्टुप्
५२	संज्ञानं नः स्वेभिः	प्रजापति	आपस में एकता	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
५३	अमुत्र भूयादधि यद्	अग्नि इत्यादि	विद्वानों के कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
५४	ऋचं साम यजामहे	शचीपति	वेद विद्या	अनुष्टुप्
५५	येते पन्थानोव दिवो	वसु	वेदमार्ग का ग्रहण	विराड् उष्णिक्
५६	तिरश्चि राजेरसितात्	ओषधि	विष नाश	अनुष्टुप् बृहती
५७	यदाशसावदतो मे	सरस्वती	गृहस्थ धर्म	जगती
५८	इन्द्रवरुणा सुतपाविमं	इन्द्र, वरुण	राजा प्रजा कर्तव्य	जगती. त्रिष्टुप्
५९	यो नः शपादशपतः	शपथ	कुवचन के त्याग	अनुष्टुप्
६०	ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः	गृहपति	गृहस्थ धर्म	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
६१	यदग्ने तपसा तप	अग्नि	वेद विद्या प्राप्ति	अनुष्टुप्
६२	अयं अग्निः सत्पति	अग्नि	सेनापति के लक्षण	जगती
६३	पृतनाजितं सहमान	अग्नि	सेनापति का कर्तव्य	अनुष्टुप्
६४	इदं यत् कृष्णः शकुनिः	आप्, अग्नि	शत्रुओं से रक्षा	अनुष्टुप्
६५	प्रतीचीनफलोहि	अपामार्ग	वैद्य का कर्म	अनुष्टुप्
६६	यद्यन्तरिक्षे यदि वात	ब्राह्मण	वेद विज्ञान	त्रिष्टुप्.
६७	पुनर्मैत्विन्द्रियं पुन	मन्त्रोक्त	सुकर्म करना	बृहती
६८	सरस्वति व्रतेषु ते	सरस्वती	सरस्वतीकी आराधना	अनुष्टुप् आदि
६९	शंनो वातो वातु	वात आदि	सुख के लिये प्रयत्न	पङ्क्ति
७०	यत् किंचासौ मनसा	इन्द्र, अग्नि	शत्रुका दमन	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
७१	परि त्वाग्ने पुरं वयं	अग्नि	सेनापतिके गुण	अनुष्टुप्
७२	उत तिष्ठताव पश्य	इन्द्र	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
७३	समिद्धो अग्निर्वृषणा	अश्विनौ	मनुष्य का कर्तव्य	जगती आदि
७४	अपचितां लोहिनीनां	वैद्य आदि	द्विविध रोग निवारण	अनुष्टुप् आदि
७५	प्रजावतीः सूयवसे	प्रजा	सामाजिक उन्नति	त्रिष्टुप् आदि
७६	आ सुस्रसः सुस्रसो	वैद्य, इन्द्र	रोगनाशऔरमनुष्यधर्म	अनुष्टुप् आदि
७७	सांतपना इदं हवि	मरुत्	वीरों का कर्तव्य	गायत्री, त्रिष्टुप्
७८	वि ते मुञ्चामि रशनां	अग्नि	आत्मा की उन्नति	गायत्री, त्रिष्टुप्
७९	यत् ते देवा अकृण्वन्	अमावास्या	परमेश्वरके गुण	त्रिष्टुप्, विराट्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८०	पूर्णापश्चादुत	पौर्णमासी	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
८१	पूर्वापरं चरतो	सोम, अर्क, चन्द्र	सूर्य, चन्द्रमाके लक्षण	जगती आदि
८२	अभ्यर्चत सुष्टुतिं	अग्नि	वेद के विज्ञान	त्रिष्टुप् आदि
८३	अप्सु ते राजन् वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	अनुष्टुप आदि
८४	अनाधृष्यो जातवेदा	अग्नि, इन्द्र	राजा का धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
८५	त्यमूषु वाजिनं देव	तार्क्ष्य	राजा प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप्
८६	त्रातारमिन्द्रमवितार	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप्
८७	यो अग्नौ रुद्रो यो	रुद्र	ईश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
८८	अपेह्यरिरस्यरिर्वा	विद्वान्	कुसंस्कारका नाश	बृहती
८९	अपो दिव्या अचायिषं	अग्नि, आदि	विद्वानों की संगति	अनुष्टुप्, गायत्री
९०	अपि वृश्च पुराणवद्	इन्द्र	राजा का धर्म	गायत्री आदि
९१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९२	स सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९३	इन्द्रेण मन्युनावय	इन्द्र	शूरों के लक्षण	गायत्री
९४	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	इन्द्र	राजा की स्तुति	अनुष्टुप्
९५	उदस्य श्यावौ विथुरौ	गृध्र	काम क्रोध निवारण	अनुष्टुप्
९६	असदन् गाव सदने	प्रजापति	काम क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
९७	यदद्य त्वा प्रयति	इन्द्र आदि	मनुष्य धर्म	त्रिष्टुप् आदि
९८	सं बर्हिरक्तं हविषा	इन्द्र	ग्राह्य पदार्थ पाने का	विराट् त्रिष्टुप्
९९	परि स्तृणीहि परि	यजमान	विद्या का प्रचार	त्रिष्टुप्
१००	पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्	ब्रह्म	कुविचार हटाना	अनुष्टुप्
१०१	यत् स्वप्ने अन्नम्	प्रजापति	अविद्या का नाश	अनुष्टुप्
१०२	नमस्कृत्य द्यावापृथिवी	मन्त्रोक्त	ऊंचा पद पाना	विराट्पुरस्ताद्बृहती
१०३	को अस्या नो द्रुहो	आत्मा	द्रोह के त्याग	त्रिष्टुप्
१०४	कः पृश्निं धेनुं	आत्मा	वेद विद्या	त्रिष्टुप्
१०५	अपक्रामन् पौरुषेयाद्	विद्वान्	पवित्र जीवन	अनुष्टुप्
१०६	यदस्मृति चकृम	अग्नि	अमरपन पाना	त्रिष्टुप्
१०७	अव दिवस्तारयन्ति	सूर्य	परस्पर दुःख नाश	अनुष्टुप्
१०८	यो न स्तायद् दिप्सति	अग्नि	शत्रुओं का नाश	त्रिष्टुप्
१०९	इदमुग्राय बभ्रवे	अग्नि वा प्रजापति	व्यवहार सिद्धि	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
११०	अग्न इन्द्रश्च दाशुषे	इन्द्र, अग्नि	राजा और मन्त्री के कर्त्तव्य	गायत्री आदि
१११	इन्द्रस्य कुक्षिरसि	ईश्वर	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्
११२	शुम्भनी द्यावापृथिवी	आप्	इन्द्रियों का जय	अनुष्टुप्
११३	तृष्टिके तृष्टवन्दन	तृष्टिका	तृष्णा त्याग	विराड् अनुष्टुप्, उष्णिक्
११४	आ ते ददे वक्षणाभ्यः	अग्नि, सोम	राक्षसों का नाश	अनुष्टुप्
११५	प्र पतेतः पापि लक्ष्मि	सविता, जातवेदा,	दुर्लक्षण का नाश	अनुष्टुप्, आदि
११६	नमो रूरायच्यवनाय	प्रजापति	रोग निवारण	परोष्णिक, आर्च्यनुष्टुप्
११७	आ मन्द्रैरिन्द्रहरिभि	इन्द्र	राजा का धर्म	पथ्या बृहती
११८	मर्माणि ते वर्मणा	कवच, सोम, वरुण	सेनापति का कर्त्तव्य,	त्रिष्टुप्

२–अथर्ववेद, काण्ड ७ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछभेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ७) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	यज्ञेन यज्ञ मयजन्त	५ । १	१ । १६४ । ५०; १० । ९० । १६	३१ । १६	
२	यत् पुरुषेण हविषा	५ । ४	१० । ९० । ७	३१ । १४	
३	अदितिर्द्यौरदिति	६ । १	१ । ८९ । १०	२५ । २३	
४	महीमू षु मातरं	६ । २		२१ । ५	
५	सुत्रामाणं पृथिवीं	६ । ३	१० । ६३ । १०	२१ । ६	
६	वाजस्य नु प्रसवे	६ । ४		९ । ५; १८।३०	
७	प्रपथे पथामजनिष्ट	९ । १	१० । १७ । ६		
८	पूषेमा आशा अनु	९ । २	१० । १७ । ५		
९	पूषन् तव व्रते वयं	९ । ३	६ । ५४ । ९	३४ । ४१	
१०	परि पूषा परस्तात्	९ । ४	६ । ५४ । १०		
११	यस्ते स्तनः शशयु	१० । १	१ । १६४ । ४९	३८ । ५	
१२, १३	अभि त्यं देवं सविता	१४ । १, २		४ । २५	पू० ५ । ८ । ८
१४	तां सवितः सत्यसवां	१५ । १		१७ । ७४	
१५	बृहस्पते सवित	१६ । १		२७ । ८	
१६	धाता राति सवितेदं	१७ । ४		८ । १७	
१७	अन्वद्यनोऽनुमति	२० । १		३४ । ९	
१८	अन्विदनुमते त्वं	२० । २		३४ । ८	
१९	ययोरोजसा स्कभिता	२५ । १		८ । ५९	
२०	विष्णोर्नु कं प्रवोचं	२६ । १	१ । १५४ । १	५ । १८	
२१	प्र तद् विष्णु स्तवते	२६ । २	१ । १५४ । २	५ । २०	
२२	यस्योरुषु त्रिषु	२६ । ३	१ । १५४ । २	५ । २०	
	उरु विष्णो विक्रमस्व			५ । ३८, ४१	
२३	इदं विष्णु र्विचक्रमे	२६ । ४	१ । २२ । १७	५ । १५	पू०३।३।९,उ० ८ । २ । ८
२४	त्रीणि पदा विचक्रमे	२६ । ५	१ । २२ । १८	३४ । ४३	उ० ८ । २ । ५
२५	विष्णोः कर्माणि पश्यत	२६ । ६	१ । २२ । १९	६ । ४;१३। ३३	उ० ८ । २ । ५
२६	तद् विष्णोः परमं पदं	२६ । ७	१ । २२ । २०	६ । ५	उ० ८ । २ । ५
२७	दिवो विष्ण उतवा	२६ । ८		५ । १९	
२८	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	३१ । १	३ । ५३ । २१		
२९	अग्ने जातान् प्रणुदा	३४ । १		१५ । १	
३०	दिव्यं सुपर्णं पयसं	३९ । १	१ । १६४ । ५२		
३१, ३२	सोमारुद्रा विवृहतं	४२ । १, २	६ । ७४ । २, ३		
३३	उभाजिग्यथुर्नपरा	४४ । १	६ । ६९ । ८		
३४	सिनीवालि पृथुष्टुके	४६ । १	२ । ३२ । ६	३४ । १०	
३५	या सुबाहुः स्वङ्गुरिः	४६ । २	२ । ३२ । ७		
३६, ३७	राकामहं सुहवां	४८ । १,२	२ । ३२ । ४,५		
३८, ३९	देवानां पत्नी रुशती	४९ । १,२	५ । ४६ । ७,८		
४०	ईडे अग्निं स्वावसुं	५० । ३	५ । ६० । १		
४१	वयं जयेम त्वया	५० । ४	१ । १०२ । ४		
४२,४३	उत प्रहामतिदीवा	५० । ६,७	१० । ४२ । ९,१०		
४४	बृहस्पतिर्नः परि पातु	५१ । १	१० । ४२ । ११		
४५	अमुत्रभूयादधि	५३ । १		२७ । ९	

मन्त्र संख्या		अथर्ववेद (काण्ड ७) सूक्त मन्त्र	वेद, मण्डल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
४६	उद् वयं तमसस्परि	५३ । ७		२०।२१;२७।१० ३५।१४;३८।२४	
४७	सप्तक्षरन्ति शिशवे	५७ । २	१० । १३ । ५		
४८,४९	इन्द्रावरुणा सुतपा	५८ । १,२	६ । ६८ । १०,११	३ । ४१	
५०	ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः	६० । १		३ । ४२	
५१	येषामध्येति प्रवसन्	६० । ३		३ । ४३	
५२	उपहूता इह गाव	६० । ५			
५३	परित्वाग्ने पुरं वयं	७१ । १	१० । ८७ । २२		
५४,५६	उत् तिष्ठतावपश्यत	७२ । १-३	१० । १७९ । १-३		
५७	उप ह्वये सुदुघां	७३ । ७	१ । १६४ । २६		
५८	हिङ्कृण्वती वसुपत्नी	७३ । ८	१ । १६४ । २७		
५९	जुष्टो दमूना	७३ । ९	५ । ४ । ५	३३ । १२	
६०	अग्ने शर्ध महते	७३ । १०	५ । २८ । ३		
६१	सूयवसाद् भगवती	७३ । ११	१ । १६४ । ४०		
६२	धृषत् पिबक लशे	७६ । ६	६ । ४७ । ६		
६३	सांतपना इदं हवि	७७ । १	७ । ५९ । ९		
६४	यो नो मर्तो मरुतो	७७ । २	७ । ५९ । ८	२३ । ६५	
६५	अमावास्ये नत्वदे	७९ । ४	१० । १२१ । १०		
६६,६७	पूर्वापरंचरतो	८१ । १,२	१० । ८५ । १८,१९		
६८	अभ्यर्चतसुष्टुतिं	८२ । १	४ । ५८ । १०	२० । १८	
६९	धाम्नोधाम्नोराजन्नितो	८३ । २		१२ । १२	
७०	उदुत्तमं वरुण पाश	८३ । ३	१ । २४ । १५	२७ । ७	
७१	अनाधृष्यो जातवेदा	८४ । १			
७२	इन्द्र क्षत्रमभि वाममो	८४ । २	१० । १८० । ३	१८ । ७१	
७३	मृगो न भीमः कुचरो	८४ । ३	१० । १८० । २		
७४	त्यमू षु वाजिनं देव	८५ । १	१० । १७८ । १	२० । ५०	पू० ४ । ५ । १
७५	त्रातारमिन्द्रमवि	८६ । १	६ । ४७ । ११	२० । २२	पू० ४ । २ । २
७६	अपो दिव्या अचायिषं	८९ । १		६ । १७	
७७	इदमापः प्र वहता	८९ । ३		२० । २३	
७८	एधोऽस्येधिषीय	८९ । ४			
७९, ८०	अपि वृश्च पुराणवद्	९० । १, २	८ । ४० । ६	२० । ५१	
८१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	९१ । १	६ । ४७ । १२; १० । १३१ । ६	२० । ५२	
८२	स सुत्रामा स्ववाँ	९२ । १	६।४७।१३;१०।१३१।७	७ । २५	
८३	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	९४ । १	१० । १७३ । ६	८ । २०	
८४	यदद्य त्वा प्रयति	९७ । १	३ । २९ । १६	८ । १५	
८५	समिन्द्र नो मनसा	९७ । २	५ । ४२ । ४	८ । १९	
८६	यानावह उशतो देव	९७ । ३		८ । १८	
८७	सुगा वो देवाः सदना	९७ । ४		८ । २२	
८८	यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं	९७ । ५		८ । २२	
८९	एष ते यज्ञो यज्ञपते	९७ । ६		८ । २१	
९०	वषड्ढुतेभ्योवषड	९७ । ७		८ । २१	
९१	मनसस्पत इमं नो	९७ । ८		२ । २२	
९२	सं बर्हिरक्तं हविषा	९८ । १		२० । ५३	
९३	आ मन्द्रै रिन्द्रहरिभि	११७ । १	३ । ४५ । १	१७।१९	पू० ३। ६ । ४ उ० ९। ३ । ८
९४	मर्माणि ते वर्मणा	११८ । १	६ । ७५ । १८		

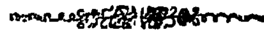
॥ ओ३म् ॥



अथर्ववेदः ॥

सप्तमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् ॥ १ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि । तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥

धीती । वा । ये । अनयन् । वाचः । अग्रम् । मनसा । वा । ये । अवदन् । ऋतानि । तृतीयेन । ब्रह्मणा । ववृधानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन लोगों ने [एक] (धीती) अपने कर्म से (वाचः) वेदवाणी के (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (वा) निश्चय करके (अनयन्) पाया

१—(धीती) धीङ् आधारे—क्तिन्, यद्वा दधातेः-क्तिन् । घुमास्थागा० । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । सुपां सुलुक्० । इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ।

है, (वा) और (ये) जिन्होंने [दूसरे] (मनसा) विज्ञान से (ऋतानि) सत्य वचन (अवदन्) बोले हैं। और जो (तृतीयेन) तीसरे [हमारे कर्म और विज्ञान से परे] (ब्रह्मणा) प्रवृद्ध ब्रह्म [परमात्मा] के साथ (वावृधानाः) वृद्धि करते रहे हैं, उन लोगों ने (तुरीयेण) चौथे [कर्म विज्ञान और ब्रह्म से अथवा धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त मोक्ष पद] के साथ (धेनोः) तृप्त करनेवाली शक्ति, परमात्मा के (नाम) नाम अर्थात् तत्त्व को (अमन्वत) जाना है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो योगी जन वेद के तत्त्व को जानकर कर्म करते, और विज्ञान पूर्वक सत्य का उपदेश करके परमेश्वर की अपार महिमा को खोजते आगे बढ़ते जाते हैं, वेही मोक्ष पद पाकर परमात्मा की आज्ञा में विचरते हुये स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑व॒त् स भु॑व॒त् पुन॑र्मघः। स द्यामौ॑र्णोद॒न्तरि॑क्षं॒ स्व॑१॒ः स इ॒दं विश्व॑मभव॒त् स आभ॑वत् ॥ २ ॥

सः। वे॒द॒। पु॒त्रः। पि॒तर॑म्। सः। मा॒तर॑म्। सः। सू॒नुः। भु॒व॒त्। सः। भु॒व॒त्। पुनः॑ऽमघः। सः। द्याम्। औ॒र्णो॒त्।

धीत्या कर्मणा। धीतिभिः=कर्मभिः—निरु ११। १६। (वा) अवधारणे (ये) जिज्ञासवः (अनयन्) प्राप्नुवन् (वाचः) वेदवाण्याः (अग्रम्) प्रधानत्वम् (मनसा) विज्ञानेन (वा) समुच्चये (ये) सूक्ष्मदर्शिनः (अवदन्) उपदिष्टवन्तः (ऋतानि) सत्यवचनानि (तृतीयेन) तृत्वपूरकेण । धीतिमनोभ्यां परेण (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेन परमात्मना (वावृधानाः) अ० १। ८। ४। वृद्धिं कुर्वाणाः, आसन् इति शेषः (तुरीयेण) अ० १। ३१। ३। चतुर्—छ। चतुर्थेन धीतिमनोब्रह्मभ्यः प्राप्तेन, यद्वा धर्मार्थकामानां पूरकेण मोक्षेण (अमन्वत) मनु अवबोधने । ज्ञातवन्तः (नाम) अ १। २४। ३। म्ना अभ्यासे-मनिन्। प्रसिद्धं परमात्मतत्त्वम् (धेनोः) अ० ३। १०। १। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११। ४२। धि धारणे तर्पणे च-नु। धारयित्र्यास्तर्पयित्र्या वा शक्तेः परमात्मनः ॥

अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः ।
आ । अभवत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (पुत्रः) अनेक प्रकार रक्षा करनेवाला परमेश्वर (पितरम्) पालन के हेतु सूर्य को (सः) वह (मातरम्) निर्माण के कारण भूमि को (वेद) जानता है, (सः) वह (सूनुः) सर्व प्रेरक (भुवत्) है, (सः) वह (पुनर्मघः) वारंवार धनदाता (भुवत्) है। (सः) उसने (अन्तरिक्षम्) आकाश और (द्याम्) प्रकाशमान (स्वः) सूर्यलोक को (और्णोत्) घेरलिया है, (सः) वह (इदम्) इस (विश्वम्) जगत् में (अभवत्) व्याप रहा है, (सः) वही (आ) समीप होकर (अभवत्) वर्तमान हुआ है ॥२॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड में व्यापकर सब का धारण कर रहा है, वही हम में भरपूर है। ऐसा समझने वाले पुरुष आत्मबल पाकर पुरुषार्थी होते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान—अ० २ । २८ । ४ । से भी करो ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१ ॥ अथर्वा प्रजापतिर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेश—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥१॥

२—(सः) प्रजापतिः (वेद) वेत्ति (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुत्रः पुरु त्रायते—निरु० २ । ११ । बहुत्राता (पितरम्) अ०२ । २८ । ४ । पालनहेतुं सूर्यम् (मातरम्) अ० २ । २८ । ४ । निर्मात्रीं पृथिवीम् (सूनुः) अ० ६ । १ । २ । सर्वस्य प्रेरकः (भुवत्) भवति (पुनर्मघः) अ० ५ । ११ । १ । वारंवारं धनदाता (द्याम्) अ० १ । २ । ४ । द्योतमानम् (और्णोत्) ऊर्णुञ् आच्छादने—लङ् । आच्छादितवान् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (स्वः) अ० २ । ५ । २ । स्वरादित्यो भवति सु अ रणः सु ईरणः—निरु०२ । १४ । आदित्यम् (सः) (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) जगत् (अभवत्) भू व्याप्तौ । व्याप्नोत् (आ) समीपे (अभवत्) वर्तते स्म ॥

अथर्वाणम् । पितरम् । देव-बन्धुम् । मातुः । गर्भम् । पितुः । असुम् । युवानम् । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस आप ने (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय, (पितरम्) पालनकर्त्ता, (देवबन्धुम्) विद्वानों के हितकारी, (मातुः) निर्माण के कारण पृथिवी के (गर्भम्) गर्भ [गर्भ समान व्यापक], (पितुः) पालन हेतु सूर्य के (असुम्) प्राण, (युवानम्) संयोजक वियोजक (अथर्वाणम्) निश्चल परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तूने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू, (तम्) उस [ब्रह्म] का (इह इह) यहां पर ही (ब्रवः) उपदेश कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन महर्षियों ने सर्वनियन्ता परमेश्वर के गुणों को साक्षात् किया है, उनके उपदेशों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वारंवार विचार द्वारा आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय

१—(अथर्वाणम्) अ० ४।१।७। अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः–निरु० ११ । १८ । निश्चलं परमात्मानम् (पितरम्) पालकम् (देवबन्धुम्) अ० ४ । १ । ७ । विदुषां हितकरम् (मातुः) निर्मात्र्या भूमेः (गर्भम्) अ० ३।१०। १२ । गर्भवद् व्यापकम् (पितुः) पालनहेतोः सूर्यस्य (युवानम्) अ० ६ । १ । २ । संयोजकवियोजकं बलवन्तम् (यः) भवान् तत्त्ववेत्ता (इमम्) सर्वव्यापिनम् (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयम् (मनसा) मननेन (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट् । जज्ञौ (प्र) प्रकर्षेण (नः) अस्मभ्यम् (वोचः) वच व्यक्तायां वाचि—लुङ्, अडभावः । अवोचः । उपदिष्टवानसि (तम्) अथर्वाणम् (इह इह) वीप्सायां द्विर्वचनम् । अस्माकमेव मध्ये (ब्रवः) लेटि रूपम् । उपदिश ॥

गातुः । स प्रत्युदैद्ध धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अया । वि-स्था । जनयन् । कर्वराणि । सः । हि घृणिः । उरुः । वराय । गातुः । सः । प्रति-उदैत् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वया । तन्वा । तन्वम् । ऐरयत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अया विष्ठा) इस रीति से (कर्वराणि) कर्म्मों को (जनयन्) प्रकट करते हुये (सः) दुःखनाशक, (घृणिः) प्रकाशमान, (उरुः) विस्तीर्ण, (गातुः) पाने योग्य वा गाने योग्य प्रभु ने (हि) ही (वराय) उत्तम फल के लिये (मध्वः) ज्ञान के (धरुणम्) धारण योग्य (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (प्रत्युदैत्) प्रत्यक्ष उदय किया है और (स्वया) अपनी (तन्वा) विस्तृत शक्ति से (तन्वम्) विस्तृत सृष्टि को (ऐरयत) प्रकट किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकाश स्वरूप, दयामय परमात्मा ने हमारे सुख के लिये संसार रचा और वेदज्ञान दिया है, उसके उपकारों को विचारते हुये हम सदा सुधार करते रहें ॥ १ ॥

१—(अया) अयैनेत्युपदेशस्य—निरु० ३ । २१ । अनया (विष्ठा) विभक्तेर्लुक् । विष्ठया । विविध स्थित्या रीत्या (जनयन्) उत्पादयन् (कर्वराणि) कृगृशॄ० । उ० २ । १२१ । इति बाहुलकात् करोतेः ष्वरच् । कर्माणि—निघ० १ । २ (सः) प्रसिद्धः (हि) अवधारणे (घृणिः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । ४ । ५२ । घृ दीप्तौ—नि । दीप्यमानः (उरुः) विस्तीर्णः (वराय) वरणीयाय फलाय (गातुः) कमिमनिजनिगा० । उ० । १ । ७३ । इति गाङ् गतौ यद्वा गै गाने—तु । पदनाम–निघ० ४ । १ । गातु गमनम्—निरु० ४ । २१ । प्राप्तव्यो गानयोग्यो वा परमेश्वरः (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः (प्रत्युदैत्) इण गतौ–लुङि छान्दसं रूपम्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रत्यक्षेणोद्गमितवान् (धरुणम्) धारणीयम (मध्वः) मधुनः । ज्ञानस्य (अग्रम्) सारम् (स्वया) स्वकीयया (तन्वा) विस्तृतशक्त्या (तन्वम्) विस्तृतां सृष्टिम (ऐरयत) प्रेरितवान् ।

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्वायुर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेश—ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश।

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च। तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

एकया। च। दश-भिः। च। सु-हुते। द्वाभ्याम्। इष्टये। विंशत्या। च। तिसृ-भिः। च। वहसे। त्रिंशता। च। वियुक्-भिः। वायो इति। इह। ताः। वि। मुञ्च ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुहुते) हे बड़े दानी परमात्मन्! (इष्टये) हमारी इच्छा पूर्ति के लिये (एकया च च दशभिः) एक और दश [ग्यारह], (द्वाभ्यां च विंशत्या) दो और बीस [बाईस], (च) और (तिसृभिः च त्रिंशता) तीन और तीस [तेतीस] (वियुग्भिः) विशेष योजनाओं के साथ [हमें] (वहसे) तू ले चलता है, (वायो) हे सर्व व्यापक ईश्वर (ताः) उन [योजनाओं] को (इह) यहां [हम में] (वि) विशेष करके (मुञ्च) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—(अ) इस मन्त्र में गणित विद्या के संकलन और गुणन का मूल है, जैसे—

१ + १०=११, २ + २०=२२, ३ + ३०=३३, इत्यादि;

तथा ११ + ११=२२, ११ + २२=३३, इत्यादि;

तथा ११ × १=११, ११ × २=२२, ११ × ३=३३, इत्यादि।

१—(एकया च दशभिश्च) एकादशभिः शरीरयोजनाभिः (सुहुते) हु दानादानयोः—क्विन्। हे महादातः परमेश्वर (द्वाभ्यां विंशत्या च) द्वाविंशत्या पञ्चमहाभूतयोजनाभिः (इष्टये) अस्माकमिच्छासिद्धये (तिसृभिश्च त्रिंशता च) त्रयस्त्रिंशता देवतानां योजनाभिः (वहसे) अस्मान्नयसि (वियुग्भिः) युजेः क्विप्। विशेषयोजनाभिः (वायो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (इह) अत्र। अस्माकं मध्ये (ताः) वियुजः (वि) विशेषेण (मुञ्च) मोचय। स्थापय ॥

(आ) ग्यारह योजनायें शरीर की हैं, अर्थात् दो नासिका, दो श्रोत्र, दो नेत्र, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थ, एक नाभि और एक ब्रह्मरन्ध्र । इसी से शरीर का नाम एकादशपुर भी है । (इ) बाईस योजनायें यह हैं—५ महाभूत + ५ प्राण + ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय + १ अन्तःकरण + १ बुद्धि । (ई) तैंतीस योजनायें वा देवता यह हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा; १२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली ; १ प्रजापति—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६६—६८ ।

आशय यह है—जिस परमात्मा ने शरीर की ग्यारह योजनाओं, बाईस पंच भूत आदि और तेतीस देवताओं द्वारा हमारा उपकार किया है, हम उसी जगदीश्वर की कृपा से इन सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः; ४ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः——ब्रह्म विद्या के लिये उपदेश ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१ ॥

यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् । ते । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ।

भाषार्थ—(देवाः) विद्वानों ने (यज्ञेन) अपने पूजनीय कर्म से (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (अयजन्त) पूजा है, (तानि) वे [उन के]

१—(यज्ञेन) पूजनीयकर्मणा (यज्ञम्) पूजनीयं परमात्मानम् (अयजन्त) पूजितवन्तः (देवाः) विद्वांसः (तानि) (धर्माणि) धारणीयानि ब्रह्मचर्यादीनि

(धर्माणि) धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म (प्रथमानि) मुख्य, प्रथम कर्तव्य (आसन्) थे। (ते) उन (महिमानः) महापुरुषों ने (ह) ही (नाकम्) दुःख रहित परमेश्वर को (सचन्त) पाया है, (यत्र) जिस परमेश्वर में रहकर (पूर्वे) पहिले, बड़े बड़े (साध्याः) साधनीय, श्रेष्ठ कर्मों के साधनेवाले लोग (देवाः) देवता अर्थात् विजयी (सन्ति) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय योगी जनों ने वेदविज्ञान, योगाभ्यास आदि साधनों से उस परमात्मा को पाया है, जिसके आश्रय से पूरे साध्य, साधु, उपकार साधक ही संसार में जय पाते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१। १६४। ५०; १०। ६०। १६। यजुः० ३१। १६ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १२६ और निरुक्त १२। ४१। में भी है ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥२

यज्ञः। बभूव। सः। आ। बभूव। सः। प्र। जज्ञे। सः। ऊं इति। ववृधे। पुनः। सः। देवानाम्। अधि-पतिः। बभूव। सः। अस्मासु। द्रविणम्। आ। दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह परमेश्वर (यज्ञः) पूजनीय (बभूव) हुआ और (आ) सब ओर (बभूव) व्यापक हुआ, (सः) वह (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) जाना गया, (सः उ) वही (पुनः) निश्चय करके (ववृधे) बढ़ा । (सः)

कर्माणि (प्रथमानि) मुख्यानि कर्तव्यानि (आसन्) अभवन् (ते) (ह) एव (नाकम्) दुःखरहितं परमात्मानम् (महिमानः) अ० ३। १०। ४। महत्त्व-युक्ताः (सचन्त) षच समवाये लङि अडभावः। अलभन्त (यत्र) नाके (पूर्वे) आद्याः। मुख्याः (साध्याः) साध्यं येषामस्तीति, साध्य—अर्श आद्यच्। साधनवन्तः। परोपकारसाधकाः साधवः (सन्ति) भवन्ति (देवाः) विजिगीषवः ॥

२—(यज्ञः) पूजनीयः संगन्तव्यः (बभूव) (सः) परमेश्वरः (आ)सर्वतः (बभूव) भू प्राप्तौ। व्याप (प्र) प्रकर्षेण (जज्ञे) ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट्। ज्ञातः प्रसिद्धो बभूव (उ) एव (ववृधे) वृद्धिं प्राप (पुनः) अवधारणे (सः)

वह (देवानाम्) दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (सः) वही (अस्मासु) हमारे बीच (द्रविणम्) प्रापणीय बल (आ) सब ओर से (दधातु) धारण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वपूजनीय, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रवृद्ध परमेश्वरके उपासक लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं ॥ २ ॥

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयजन्त । अमर्त्यान् । मनसा । अमर्त्येन । मदेम । तत्र । परमे । वि-ओमन् । पश्येम । तत् । उत्-इतौ । सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जितेन्द्रिय विद्वानों ने (यत्) जिस ब्रह्म के (अमर्त्यान्) न मरे हुये [अविनाशी] (देवान्) उत्तम गुणों का (हविषा) अपने देने और लेने योग्य कर्म से और (अमर्त्येन) न मरे हुये [जीते जागते] (मनसा) मन से (अयजन्त) सत्कार, संगति करण और दान किया है । (तत्र) उस (परमे) सब से बड़े (व्योमन्) विविध रक्षक ब्रह्म में (मदेम) हम आनन्द भोगें और (तत्) उस ब्रह्म को (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में [बिना रोक] (पश्येम) हम देखते रहें ॥ ३ ॥

(देवानाम्) दिव्यानां वायुसूर्यादिलोकानाम् (अधिपतिः) अधिकं पालयिता (अस्मासु)उपासकेषु (द्रविणम्) अ० २ । २९ । ३ । प्रापणीयं बलम्—निघ० २ । ९ (आ) समन्तात् (दधातु) धारयतु ॥

३—(यत्) यस्य ब्रह्मणः (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (देवान्) दिव्यान् गुणान् (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण कर्मणा (अयजन्त) सत्कृतान् संगतान् दत्तान् च कृतवन्तः (अमर्त्यान्) अमरणशीलान् । अविनाशिनः (मनसा) अन्तःकरणेन (अमर्त्येन) अमरशीलेन । पुरुषार्थिना (मदेम) हृष्येम (तत्र) तस्मिन् (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्षके ब्रह्मणि (पश्येम) आलोचयेम (तत्) ब्रह्म (उदितौ) उदये (सूर्यस्य) रवेः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से साक्षात्कार करते हैं, वे ही जीवित पुरुष आनन्द भोगते हुये, परमात्मा का दर्शन करते हुये, अविद्या को मिटाकर विचरते हैं, जैसे सूर्य निकलने पर अन्धकार मिट कर प्रकाश हो जाता है ॥ ३ ॥

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ य॒ज्ञं दे॒वा अत॑न्वत । अस्ति॒ नु तस्मा॒दोजी॑यो॒ यद् वि॒हव्ये॑नेजि॒रे ॥ ४ ॥

यत् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । य॒ज्ञम् । दे॒वाः । अत॑न्वत । अस्ति॑ । नु॒ । तस्मा॑त् । ओजी॑यः । यत् । वि॒-ह॒व्ये॑न । ई॒जि॒रे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (देवाः) विद्वानों ने (पुरुषेण) अपने अग्रगामी आत्मा के साथ (हविषा) देने और लेने योग्य व्यवहार से (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अतन्वत) फैलाया। वह ब्रह्म (नु) अब (तस्मात्) उस [आत्मा] से (ओजीयः) अधिक बलवान् (अस्ति=आसीत्) हुआ, (यत्) जिस [ब्रह्म] की उन्होंने (विहव्येन) विशेष देने योग्य व्यवहार से (ईजिरे) पूजा था ॥४॥

भावार्थ—विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीवात्मा से अधिक ओजस्वी शक्ति विशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—म० १० । ६६ । ७ । और—यजु० ३१ । १४ ।

मु॒ग्धा दे॒वा उ॒त शुना॑यजन्तो॒त गोर॒ङ्गैः पु॑रु॒धाय॑जन्त । य इ॒मं य॒ज्ञं मन॑सा चि॒केत॒ प्र णो॑ वोच॒स्तमि॒हेह ब्र॑वः ॥५॥

४—(यत्) यदा (पुरुषेण) अ० १ । १६ । ४ । पुर अग्रगतौ—कुपन् । अग्रगामिना स्वात्मना (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण च कर्मणा (देवाः) विद्वांसः (अतन्वत) विस्तारितवन्तः (अस्ति) आसीत् तद्ब्रह्म (नु) अवधारणे । इदानीम् (तस्मात्) पुरुषात् (ओजीयः) ओजस्वी-ईयसुन्, विनो लुक् । बलवत्तरम् (यत्) ब्रह्म (विहव्येन) विविधं दातव्येन व्यवहारेण (ईजिरे) यजेः लिट् । पूजितवन्तः ॥

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः । पुरु-धा । अयजन्त । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग [ईश्वर की सीमा के विषय में] (मुग्धाः) मूढ़ होकर (उत) भी (शुना) ज्ञान से [परमात्मा को] (अयजन्त) मिले हैं, (उत) और (गोः) वेदवाणी के (अङ्गैः) अंगों से [उसे] (पुरुधा) विविध प्रकार से (अयजन्त) पूजा है। (यः) जिस आपने (इमम् यज्ञम्) इस पूजनीय परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तू ने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस परमेश्वर का (इह इह) यहांपर ही (ब्रवः) उपदेशकर ॥५॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश करके संसार को आगे बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० ७ । २ । १ ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

१-४ ॥ अदितिर्देवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ निचृज्जगती ॥

मन्त्रः १, प्रकृतिलक्षणोपदेशः—मन्त्र १, प्रकृति के लक्षण का उपदेश ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।

५—(मुग्धाः) मोहिताः सन्तः (देवाः) विद्वांसः (उत) अपि (शुना) शुन गतौ-क्विप् । ज्ञानेन । शुनं सुखम्-निघ० ७ । ६ (अयजन्त) संगतवन्तः परमात्मानम् (गोः) वेदवाचः । गौः=वाक्—निघ० १ । ११ (अंगैः) (पुरुधा) बहुधा (अयजन्त) पूजितवन्तः अन्यत्पूर्ववत्—अ० ७ । २ । १ ।

सः । पिता । सः । पुत्रः । विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अदितिः=अदितेः) अदीन वा अखण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य, (अदितिः) अदिति से (अन्तरिक्षम्) मध्य वर्ती आकाश, (अदितिः) अदिति से (माता) हमारी माता, (सः पिता) वह हमारा पिता, (सः पुत्रः) वह हमारा पुत्र [सन्तान] है। (अदितिः) अदिति से (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण वाले पदार्थ, (अदितिः) अदिति से (पञ्च) विस्तृत [वा पञ्चभूत रचित] (जनाः) सब जीव, (अदितिः) अदिति से (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) उत्पन्न होने वाला जगत् है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो संसार उत्पन्न हुआ है और जो आगे उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर नियम के अनुसार अदिति वा प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण से रचा जाता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋक्० में है—म० १ । ८६ । १०, यजु० २५ । २३ । और निरु० ४ । २३ । में है । भगवान् यास्क मुनि कहते हैं [इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति वा] यह मन्त्र अदिति की महिमा कहता है अथवा यह सब वस्तुयें अदीन हैं—निरु० ४ । २३ ॥

मन्त्रः २, पृथ्वीविषयोपदेशः—मन्त्र २, पृथ्वी के विषय का उपदेश ॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

१—(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने—क्तिन् । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पञ्चम्याः सुः । अदितेः । प्रकृतेः । जगत्कारणात् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अदितिः) (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्याकाशः (माता) अस्माकं जननी (सः) प्रसिद्धः (पिता) जनकः (सः) (पुत्रः) सन्तानः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (पञ्च) अ० ६ । ७५ । ३ । शप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्ति करणे—कनिन् । पञ्चानः । विस्तृताः । पञ्चभूत निर्मिता वा (जनाः) प्राणिनः (जातम्) उत्पन्नम् (जनित्वम्) जनिदाच्यु० । उ० ४ । १०४ । इति जनी प्रादुर्भावे—इत्वन् । उत्पत्स्यमानं जगत् ॥

तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥२॥

महीम् । ऊं इति । सु । मातरम् । सु-व्रतानाम् । ऋतस्य । पत्नीम् । अवसे । हुवामहे । तुवि-क्षत्राम् । अजरन्तीम् । उरूचीम् । सुशर्माणम् । अदितिम् । सु-प्रनीतिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(महीम्) पूजनीय, (मातरम्) माता [के समान हित-कारिणी], (सुव्रतानाम्) सुकर्मियों के (ऋतस्य) सत्यधर्म की (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत बल वा धन वाली, (अजरन्तीम्) न घटनें वाली, (उरूचीम्) बहुत फैली हुई, (सुशर्म्माणम्) उत्तम घर वा सुख वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीति वाली (अदितिम्) अदिति, अदीन पृथ्वी को (उ) ही (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सु) अच्छे प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी के गुणों में चतुर होते हैं, वे ही राज्य भोगने, बल और धन बढ़ाने, धार्मिक नीति चलाने और प्रजा पालने आदि शुभगुणों के योग्य होते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है, २१ । ५ ॥

मन्त्रः ३, वेदवाणीगुणोपदेशः—मन्त्र ३, वेद वाणी के गुणों का उपदेश ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३ ॥

२—(महीम्) महतीम् (उ) अवधारणे (सु) सुष्ठु । सत्कारेण (मातरम्) मातृसमानहिताम् (सुव्रतानाम्) शोभनकर्मवताम् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पत्नीम्) पालयित्रीम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः (तुविक्षत्राम्) बहुबलां बहुधनाम् (अजरन्तीम्) अजराम् (उरूचीम्) अ० ३। ३ । १ । बहु विस्तारगताम् (सुशर्म्माणम्) उत्तमगृहयुक्ताम् । बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां पृथिवीम्—निघ० १ । १ । (सुप्रणीतिम्) सुष्ठु प्रकृष्टनीतियुक्ताम् ॥

सु-त्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सु-शर्माणम् ।
अदितिम् । सु-प्रणीतिम् । दैवीम् । नावम् । सु-अरित्राम् ।
अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामाणम्) अच्छे प्रकार रक्षा करने हारी, (पृथिवीम्) फैली हुई, (द्याम्) प्राप्ति योग्य, (अनेहसम्) अखण्डित, (सुशर्म्माणम्) अत्यन्त सुख देनेवाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीतिवाली (अदितिम्) अदिति, अदीन वेद विद्यारूप, (दैवीम्) देवताओं, विद्वानों की बनाई हुई, (स्वरित्राम्) सुन्दर बल्लियों वाली, (अस्रवन्तीम्) न चूने वाली (नावम्) नाव पर (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अनागसः) निर्दोष हम (आ रुहेम) चढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अखण्ड वेद विद्या को प्राप्त होते हैं, वे संसार के विघ्नों से ऐसे पार होते, जैसे विज्ञानी शिल्पी की बनाई नाव से बड़े समुद्र को पार कर जाते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ६३ । १०, और यजु०२१।६॥

मन्त्रः ४, परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ४, परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

३—(सुत्रामाणम्) सुरक्षित्रीम् (पृथिवीम्) अ० १ । २ । १ । विस्तृताम् (द्याम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । द्यु अभिगमने—डो । अभिगन्तव्याम् (अनेहसम्) नञि हन एह च । उ० ४ । २२४ । अ+हन—असि । एन एतेः—निरु० ११ । २४ । अहिंसनीयाम् (सुशर्म्माणम्) बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां वेदवाचम् । अदितिः=वाक्-निघ० १ । ११ (सुप्रणीतिम्) म० २ (दैवीम्) देव अञ् । विद्वद्भिर्निर्मिताम् (नावम्) नोदनीयां नौकाम् (स्वरित्राम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७२ । ऋ गतौ—इत्र । शोभननौकाचालनकाष्ठयुक्ताम् (अनागसः) अ० २ । १० । १ । इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । ११२ । इण् गतौ असुन्, आगादेशः । अनागस्त्वमनपराधत्वम् । आग आङ् पूर्वाद् गमेः—निरु० ११ । २४ । अनपराधाः (अस्रवन्तीम्) स्रवणरहिताम् (आ रुहेम) आरूढा भूयास्म (स्वस्तये) क्षेमाय ॥

यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यंच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्र-सवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम । वचसा । करामहे । यस्याः । उप-स्थे । उरु । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रि-वरूथम् । नि । यच्छात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) अन्न वा बल के (प्रसवे) उत्पन्न करने में (नु) अब (मातरम्) निर्माण करने वाली, (महीम्) विशाल, (अदितिम्) अदीन शक्ति, परमेश्वर को (नाम) प्रसिद्ध रूप से (वचसा) वेद वाक्य के साथ (करामहे) हम स्वीकार करें। (यस्याः) जिस [शक्ति] की (उपस्थे) गोद में (उरु) यह बड़ा (अन्तरिक्षम्) आकाश है, (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सुखों वाला (शर्म) घर (नि) नियम के साथ (यच्छात्) देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब जगत् का निर्माता और नियन्ता है, उसकी उपासना ही से सब मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ९ । ५ और १८ । ३० ॥

४—(वाजस्य) अन्नस्य-निघ० २ । ७ । बलस्य-निघ० २ । ९ (नु) इदानीम् (प्रसवे) उत्पादने (मातरम्) निर्मात्रीम् (महीम्) विशालाम् (अदितिम्) अदीनां शक्तिं परमेश्वरम् (नाम) प्रसिद्ध्या (वचसा) वेदवचनेन (करामहे) छान्दसः शप् । आकुर्महे । स्वीकुर्मः (यस्याः) अदितेः (उपस्थे) उत्संगे (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सा) अदितिः (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ०२ । ६ । इति वृञ् वरणे-ऊथन् । त्रीणि वरूथानि वरणीयान्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् तत् (नि) नियमेन (यच्छात्) दाण् दाने—लेट् । दद्यात् ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१ ॥ देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

देवगुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्। तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः। पुत्राणाम्। अदितेः। अकारिषम्। अव। देवानाम्। बृहताम्। अनर्मणाम्। तेषाम्। हि। धाम। गभि-षक्। समुद्रियम्। न। एनान्। नमसा। परः। अस्ति। कः। चन ॥१॥

भाषार्थ—(दितेः) दीनता से (पुत्राणाम्) शुद्ध करने वाले वा बहुत बचाने वाले, (अदितेः) अदीनता के (देवानाम्) देने वाले वा प्रकाश करने वाले, (बृहताम्) बड़े गुण वाले, (अनर्मणाम्) हिंसा न करने वाले वा अजेय (तेषाम्) उन पुरुषों के (धाम) धारण सामर्थ्य को (हि) ही (गभिषक्) गहराई से युक्त, (समुद्रियम्) [पार्थिव और अन्तरिक्ष] समुद्र में रहनेवाला (अव) निश्चय करके (अकारिषम्) मैंने जाना है, (कः चन) कोई भी

१—(दितेः) दीङ् क्षये—क्तिन्। दीनतायाः सकाशात् (पुत्राणाम्) अ० १। ११। ५। पूङ् शोधे—क्त। पुत्रः पुरु त्रायते—निघ० २। ११। पुरु+ त्रैङ रक्षणे—ड। पावकानां शोधकानाम्। बहुत्रातॄणाम् (अदितेः) षष्ठी-रूपम्। अदीनतायाः (अकारिषम्) कॄ विज्ञाने—लुङ्। इति शब्दकल्पद्रुमः। विज्ञातवानस्मि (अव) निश्चयेन (देवानाम्) देवो दानाद्वा दीपनाद् वा —निरु० ७। १५। दातॄणां प्रकाशकानां वा (बृहताम्) गुणैर्महताम् (अनर्मणाम्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। ऋ हिंसायाम्—मनिन्। अहिंसकानाम् अहिंसनीयानाम् (तेषाम्) प्रसिद्धानां पुरुषाणाम् (हि) एव (धाम) धारणसामर्थ्यम् (गभिषक्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति गम्लृ गतौ—इन्, मस्यभः+षञ्ज सङ्गे—क्विप्। गम्भीरता युक्तम्

(परः) शत्रु (एनान्) इनको (नमसा) [उनके] अन्न वा सत्कार के कारण (न) नहीं (अस्ति) पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा मनुष्य दीनता छोड़ कर संसार में आत्मा और शरीर की अदीनता का दान करते हैं, वे पृथ्वी और आकाश में यान विमान आदि द्वारा अधिकार जमाते और शत्रुओं को जीतते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु । अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरः-एता । ते । अस्तु । अथ । इमम् । अस्याः । वरे । आ । पृथिव्याः । आरे-शत्रुम् । कृणुहि । सर्व-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (भद्रात्) एक मङ्गल कर्म से (श्रेयः) अधिक मङ्गलकारी कर्म को (अधि) अधिकारपूर्वक (प्र इहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालक परमेश्वर (ते) तेरा (पुरएता) अग्रगामी (अस्तु) होवे । (अथ) फिर तू (इमम्) इस [अपने

(समुद्रियम्) समुद्राभ्राद् घः । पा० । ४ । ४ । ११८ । इति समुद्र-घ । आन्तरिक्षे पार्थिवे वा समुद्रे भवम् (न) निषेधे (एनान्) पुरुषान् (नमसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । सत्कारेण (परः) शत्रुः (अस्ति) अस ग्रहणे गतौ च । शपो लुक् छान्दसः । असति गृह्णाति गच्छति प्राप्नोति वा (कश्चन) कोऽपि ॥

१—(भद्रात्) मङ्गलात्कर्मणः (अधि) अधिकृत्य (श्रेयः) प्रशस्य—ईयसुन् । प्रशस्यतरं कर्म (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (पुरएता) अग्रगामी (ते) तव (अथ) अनन्तरम् (अस्याः) दृश्यमानायाः (वरे) वरणीये फले (आ) समन्तात्

आत्मन] को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वरे) श्रेष्ठ फल में (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से दूर (सर्ववीरम्) सर्ववीर, सबमें वीर (आ) सब ओर से (कृणुहि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से अधिक अधिक उन्नति करते हुये आगे बढ़े जाते हैं, वेही सर्ववीर निर्विघ्नता से अपना जीवन सुफल करते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ पूषा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री; ४ अनुष्टुप् ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर के उपासना का उपदेश ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

प्र-पथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्र-पथे । दिवः । प्र-पथे । पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रिय-तमे । सधस्थे इति सध-स्थे । आ । च । परा । च । चरति । प्र-जानन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (पथाम्) सब मार्गों में से (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (दिवः) सूर्य के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है। (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (उभे) दोनों (प्रियतमे) [परस्पर] अति प्रिय (सधस्थे) एक साथ स्थिति करने वाले [सूर्य और पृथिवी लोक]

(पृथिव्याः) भूलोकस्य (आरेशत्रुम्) आरे दूरे शत्रवो यस्य तम् (कृणुहि) कृवि हिंसाकरणयोः । कुरु । (सर्ववीरम्) सर्वेषु वीरम् । एकवीरम् ॥

१—(प्रपथे) प्रकृष्टे विस्तृते मार्गे (पथाम्) मार्गाणां मध्ये (अजनिष्ट) प्रादुरभूत (पूषा) अ० १।९।१। पोषकः परमेश्वरः (दिवः) सूर्यस्य (पृथिव्याः) भूलोकस्य (उभे) द्वे द्यावापृथिव्यौ (अभि) प्रति (प्रियतमे)

(अभि) में (आ) हमारे निकट (च च) और (परा) दूर (चरति) विचरता रहता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि लोकों को परस्पर आकर्षण से धारण करता है, वही हमारा पालन पोषण करता है चाहे हम अपने घर के निकट वा दूर हों ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ६ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयत-मेन नेषत् । स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभय-तमेन । नेषत् । स्वस्ति-दाः । आघृणिः । सर्व-वीरः । अप्र-युच्छन् । पुरः । एतु । प्र-जानन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (इमाः) इन (सर्वाः) सब (आशाः) दिशाओं को (अनु) लगातार (वेद) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) अत्यन्त अभय [मार्ग] से (नेषत्) ले चले । (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता, (आघृणिः) बड़ा प्रकाशमान (सर्ववीरः) सब में वीर, (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (अप्रयुच्छन्) विना चूक किये हुये (पुरः) हमारे आगे आगे (एतु) चले ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक, मङ्गलप्रद, सर्ववीर, महाबुद्धिमान् परमेश्वर को निरन्तर सहायक जानकर, मनुष्य उत्तम कर्मों में आगे बढ़े ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ५ ॥

अतिशयेन प्रीतिमत्यौ (सधस्थे) परस्पराकर्षणेन सहस्थितिशीले (आ) समीपे (च च) (परा) दूरे (चरति) गच्छति (प्रजानन्) प्रकृष्टविद्वान् ॥

२—(पूषा) पोषक ईश्वरः (इमाः) (आशाः) दिशः (अनु) निरन्तरम् (वेद) वेत्ति (सर्वाः) (सः) पूषा (अस्मान्) धार्मिकान् (अभयतमेन) अत्यन्तभयरहितेन पथा (नेषत्) नयतेर्लेट् । नयेत् (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता (आघृणिः) सम्यक् प्रकाशमानः (सर्ववीरः) सर्वेषु वीरः (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् (पुरः) अग्रे (एतु) गच्छतु (प्रजानन्) अतिविद्वान् ॥

पूषन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न ।
स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥

पूष॑न् । तव॑ । व्र॒ते । व॒यम् । न । रि॒ष्ये॒म॒ । क॒दा । च॒न ।
स्तो॒तारः॑ । ते॒ । इ॒ह । स्म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे पूषा, पालन करनेवाले परमेश्वर ! (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में [रहकर] (वयम्) हम (कदा चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) दुःखी होवें। (इह) यहां पर (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले (स्मसि) हम लोग हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमेश्वर के गुण और कर्मों के अनुकूल चलकर सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । ९ और यजु० ३४ । ४१ ॥

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम् ।
पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॒ सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

परि॑ । पू॒षा । प॒रस्ता॑त् । हस्त॑म् । द॒धा॒तु॒ । दक्षि॑णम् । पुनः॑ । नः॒ । न॒ष्टम् । आ । अ॒ज॒तु॒ । सम् । न॒ष्टेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमात्मा (दक्षिणम्) अपना दाहिना (हस्तम्) हाथ (परस्तात्) पीछे से [हमारे पुरुषार्थानुकूल] (परि) सब ओर (दधातु) धारण करे। वह (नः) हमें (नष्टम्) नष्ट

३—(पूषन्) पोषक परमात्मन् (तव) (व्रते) वरणीये नियमे (वयम्) उपासकाः (न) निषेधे (रिष्येम) रिष हिंसायाम्, दैवादिकः, अकर्मकः । हिंसिता भवेम (कदा चन) कदापि (स्तोतारः) स्तावकाः (ते) तव (इह) अत्र (स्मसि) स्मः । भवामः ॥

४—(परि) परितः (पूषा) पोषकः परमात्मा (परस्तात्) उत्तरे काले (हस्तम्) कृपाहस्तम् (दधातु) धारयतु (दक्षिणम्) (पुनः) (नः)

बल को (पुनः) फिर (आ अजतु) लावे, [पाये हुये] (नष्टेन) नष्ट बल के साथ (सम् गमेमहि) हम मिले रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बायें हाथ की अपेक्षा दाहिने हाथ से अधिक उपकार करता है, वैसेही परमात्मा अपनी पूरेण कृपा हम पर रक्खे, जिससे हम प्रयत्न पूर्वक अपने खोये बल [प्रारब्ध फल] को फिर पाकर रख सकें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१ ॥ सरस्वती देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सरस्वतीविषयोपदेशः—सरस्वती के विषय का उपदेश ॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ १

यः । ते॒ । स्तनः॑ । श॒श॒युः । यः । म॒यः॒-भूः । यः । सु॒म्न॒-युः । सु॒-हवः॑ । यः । सु॒-दत्रः॑ । येन॑ । विश्वा॑ । पुष्य॑सि । वार्या॑णि । सर॑स्वति । तम् । इ॒ह । धात॑वे । कः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती, विज्ञानवती स्त्री ! [वा वेद-विद्या] (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन, दूध का आधार (शशयुः) प्रशंसा पाने वाला, (यः) जो (मयोभूः) सुखदेनेवाला और (यः) जो (सुम्नयुः) उपकार करनेवाला, (सुहवः) अच्छे प्रकार ग्रहणयोग्य और

अस्मभ्यम् (नष्टम्) ध्वस्तं बलम् (आ अजतु) अज गतिक्षेपणयोः । आनयतु (नष्टेन) अदृष्टबलेन प्रारब्धफलेन (सं गमेमहि) संगच्छेमहि ॥

१—(यः) (ते) तव (स्तनः) दुग्धाधारः (शशयुः) शशमानः, अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । शशमानः शंशमानः—निरु० ६ । ८ । इति श्रवणात्, शंसु स्तुतौ—अ प्रत्ययः + या गतौ—कु, मृगय्वादित्वात्—उ० १ । ३७ । अनुस्वार-लोपः सकारस्य शकारश्च छान्दसः । शंसं शंसां प्रशंसां याति यः सः (यः) (मयोभूः) सुखस्य भावयिता प्रापयिता (सुम्नयुः) छन्दसि परेच्छायां क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । सुम्न—क्यच्, उ प्रत्ययः । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति

(यः) जो (सुदत्रः) बड़ा दानी है । (येन) जिस स्तन से (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकरणीय अंगों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है (तम्) उस स्तन को (इह) यहां (धातवे) पीने के लिये (कः) तू ने ठीक किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार विदुषी माता का दूध पीकर बालक शरीर से पुष्ट हो कान्तिमान् होता है, वैसेही विद्वान् पुरुष वेद विद्या का अमृत पान करके आत्मबल से पुष्ट होकर कीर्तिमान् होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है-म० १ । १६४ । ४६ । और यजुर्वेद, ३८ । ५ । और श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि, जातकर्म में बालक के स्तन पान करने के विषय में आया है ॥

सूक्तम् ११ ॥

१ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अन्नरक्षोपदेशः—अन्न के रक्षा का उपदेश ॥

यस्ते॑ पृथु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैव्यः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑तीदम् । मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभि॒ः सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

यः । ते॒ । पृ॒थुः । स्त॒न॒यि॒त्नुः । यः । ऋ॒ष्वः । दैव्यः॑ । के॒तुः । विश्व॑म् । आ॒-भूष॑ति । इ॒दम् । मा । नः॒ । व॒धीः॒ । वि॒-द्युता॑ । दे॒व॒ । स॒स्यम् । मा । उ॒त । व॒धीः॒ । र॒श्मि-भिः॑ । सूर्य॑स्य ॥१॥

यः । उपकारी (सुहवः) शोभनो हवो ग्रहणं यस्य सः (सुदत्रः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । इति ददातेः ष्ट्रन्, ह्रस्वः । सुदत्रः कल्याणदानः-निरु० ६ । १४ । महादाता (येन) स्तनेन (विश्वा) सर्वाणि (पुष्यसि) पोषयसि (वार्याणि) वरणीयानि स्वीकरणीयानि अंगानि (सरस्वति) सरांसि विज्ञानानि सन्ति यस्यां सा विज्ञानवती स्त्री वेदवाणी वा, तत्सम्बुद्धौ (तम्) स्तनम् (इह) अस्मिन् कर्मणि (धातवे) धेट् पाने—तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । धातुं पानं कर्तुम् (कः) करोतेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुकि गुणे । हल्ङ्याब्भ्यो० । पा० ६ । १ । ६८ । इति सिपो लोपः, अडभावे रूपम् । अकः । त्वं योग्यं कृतवती ॥

भाषार्थ—(देव) हे जलदाता मेघ ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) विस्तीर्ण और (यः) जो (ऋष्वः) इधर उधर चलनेवाला या बड़ा, (दैवः) आकाश में रहने वाला, (केतुः) जताने वाला झंडा रूप (स्तनयित्नुः) गर्जन (इदम् विश्वम्) इस सब स्थान में (आभूपति) व्यापता है । (नः) हमारे (सस्यम्) धान्य को (विद्युता) चमचमाती बिजुली से (मा वधीः) मत नाश कर, और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (उत) भी (मा वधीः) मत सुखा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का विचार रख कर पहिले से अन्न आदि के संचय से रक्षा का उपाय कर लेवें॥१॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ सभापतिर्देवता १ त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ॥

सभापति कर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्यों का उपदेश ॥

सुभा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संवि॒दा॒ने । येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितरः॒ संग॑तेषु ॥ १ ॥

सु॒भा । च॒ । मा॒ । सम्ऽइ॑तिः । च॒ । अ॒व॒ता॒म् । प्र॒जाऽप॑तेः । दु॒हि॒तरौ॑ । सं॒वि॒दा॒ने इति॑ स॒म्ऽवि॒दा॒ने । येन॑ । स॒म्ऽगच्छै॑ । उप॑ । मा॒ । सः । शि॒क्षा॒त् । चारु॑ । व॒दा॒नि॒ । पि॒त॒रः॒ । सम्ऽग॑तेषु ॥१

१—(यः) (ते) तव (पृथुः) विस्तीर्णः (स्तनयित्नुः) अ० ४ । १५ । ११ । मेघध्वनिः (ऋष्वः) अशूप्रुषिलटि । उ० १ । १५१ । ऋष गतौ दर्शने च-क्वन् । इतस्ततो गन्ता । महान्—निघ० ३ । ३ (दैवः) दिव्—अण् । दिवि आकाशे भवः (केतुः) अ० ६ । १०३ । ३ । ज्ञापकः । ध्वजरूपः (विश्वम्) सर्वं स्थानम् (आभूपति) भूष अलङ्कारे । व्याप्नोति (नः) अस्माकम् (मा वधीः) मा हिंसीः (विद्युता) अशन्या (देव) हे जलप्रद मेघ (सस्यम्) माछासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति षस स्वप्ने—य । धान्यम् (उत) अपि (मा वधीः) मा शोषय (रश्मिभिः) किरणैः (सूर्यस्य) सवितुः ॥

भाषार्थ—(प्रजापतेः) प्रजापति अर्थात् प्रजारक्षक पुरुषार्थ की (दुहितरौ) पूरण करने वाली [या दो पुत्रियों के समान हितकारी] (संविदाने) यथावत् मेल वाली (सभा) सभा, विद्वानों की संगति (च च) और (समितिः) एकता (मा) मुझे (अवताम्) तृप्त करें। (येन) जिस पुरुष के साथ (संगच्छै) मैं मिलूं, (सः) वह (मा) मुझे (उप) आदर से (शिक्षात्) समर्थ करे, (पितरः) हे पितरो, पालन करने वाले विद्वानो ! (संगतेषु) सम्मेलनों के बीच में (चारु) ठीक ठीक (वदानि) बोलूं ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति ऐसा सुशिक्षित और सुयोग्य पुरुष हो कि संगठन की सफलता के लिये सब सभासद् एकमत हो जावें, और उसके धर्मयुक्त वचन को मानकर उसके सहायक रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० ६। सू० ६४। से करो ॥

विद्म ते सभे नाम॑ नरिष्टा नाम॒ वा अ॑सि ।
ये ते॒ के च॑ सभासद॒स्ते मे॑ सन्तु सवा॑चसः ॥ २ ॥

विद्म । ते॒ । स॒भे॒ । नाम॑ । न॒रिष्टा॑ । नाम॑ । वै । अ॒सि॒ । ये । ते॒ । के । च॒ । स॒भा-सदः॑ । ते । मे॒ । स॒न्तु॒ । स-वा॑चसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सभे) हे सभा ! (ते) तेरा (नाम) नाम (विद्म) हम जानते हैं, तू (नरिष्टा) नरों की इष्ट देवी (वै) ही (नाम) नाम वाली

१—(सभा) अ० ४। २१। ६। विद्वद्भिः प्रकाशमानः समाजः (च) (मा) मां सभापतिम् (समितिः) अ० ६। ६४। २। एकता। एकात्मता (प्रजापतेः) प्रजारक्षकस्य पुरुषार्थस्य (दुहितरौ) अ० ३। १०। १३। दुह प्रपूरणे—तृच्। प्रपूरयित्र्यौ। पुत्रीवत् हितकारिण्यौ (संविदाने) अ० २। २८। २। संगच्छमाने (येन) पुरुषेण सह (संगच्छै) संगतो भवानि (उप) आदरे (मा) माम् (सः) पुरुषः (शिक्षात्) शकेः सन्नन्तात् लेट्। शक्तं समर्थं कुर्य्यात् (चारु) अ० २। ५। १। मनोहरम् (वदानि) कथयानि (पितरः) हे पालका विद्वांसः (संगतेषु) सम्मेलनेषु ॥

२—(विद्म) अ० १। २। १। वयं जानीमः (ते) तव (सभे) (नाम) नामधेयम् (नरिष्टा) नर+इष्टा। शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। वा० पा० ६। १। ६४। इति पररूपम्। नराणामिष्टा हिता (नाम) नाम्ना (वै) खलु

(असि) है । (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (सभासदः) सभासद् हैं, (ते) वे सब (मे) मेरे लिये (सवाचसः) एक वचन (सन्तु) होवें ॥२॥

भावार्थ—उसी सभा में मनुष्यों का इष्ट सिद्ध होता है, जहां पर सभापति और सभासद् एक मत होकर धर्म का प्रचार करते हैं ॥२॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम् । अहम् । सम्-आसीनानाम् । वर्चः । विज्ञानम् । आ । ददे ।
अस्याः । सर्वस्याः । सम्-सदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ॥३॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [सभापति] (एषाम्) इन (समासीनानाम्) यथावत् बैठे हुये पुरुषों का (वर्चः) तेज और (विज्ञानम्) विज्ञान (आ ददे) स्वीकार करता हूं । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (माम्) मुझ को (अस्याः) इस (सर्वस्याः संसदः) सब सभा का (भगिनम्) ऐश्वर्यवान् (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां सभापति और सब सभासद् एकमत होकर अपना पराक्रम और विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म विचार प्रकाशते हैं, वहां पर सब ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा ।
तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

यत् । वः । मनः । परा-गतम् । यत् । बद्धम् । इह । वा । इह । वा ।
तत् । वः । आ । वर्तयामसि । मयि । वः । रमताम् । मनः ॥ ४ ॥

(असि) वर्तसे (ये के) ये केचित् (ते) तव (सभासदः) सभ्याः (ते) सामाजिकाः (मे) मह्यम् (सन्तु) (सवाचसः) समानवाक्याः । एकवचनाः ॥

३—(एषाम्) पुरोवर्तिनाम् (अहम्) सभापतिः (समासीनानाम्) आस उपवेशने-शानच् । ईदासः । पा० ७।२। ८३ । आकारस्य ईकारः । यथावदुप-विष्टानाम् (वर्चः) तेजः । पराक्रमम् (आ ददे) अङ्गीकरोमि (अस्याः) पुरः-स्थितायाः (सर्वस्याः) (संसदः) सभायाः (माम्) (इन्द्र) हे परमेश्वर (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु ॥

भाषार्थ-[हे सभासदो!] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) मन (परागतम्) उचट गया है, (वा) अथवा (यत्) जो (इह वा इह) इधर उधर [प्रतिकूल विषयों में (बद्धम्) बंधा हुआ है। (वर्तयामसि) हम लौटाते हैं [जिससे] (वः मनः) तुम्हारा मन (मयि) मुझ में (रमताम्) ठहर जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति अपनी विशेष विज्ञानता से सभासदों का ध्यान निर्धारित विषय पर खींच कर कार्यसिद्धि करे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं को हराने का उपदेश ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्-यन् । तेजांसि । आ-ददे । एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (उद्यन्) उदय होते हुये (सूर्यः) सूर्य ने (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (तेजांसि) तेजों को (आददे) ले लिया है। (एव)

४—(यत्) (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् (परागतम्) धर्मविषयादन्यत्रगतम् (यत्) (बद्धम्) संसक्तम् (इह वा इह) इतस्ततः। अनिश्चितविषये (वा) अथवा (तत्) मनः (वः) युष्माकम् (आ) आकृष्य (वर्तयामसि) अभिमुखं कुर्मः (मयि) प्रधाने (वः) (रमताम्) रमु उपरमे। तिष्ठतु (मनः) ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (सूर्यः) (नक्षत्राणाम्) तारकाणाम् (उद्यन्) उदयं प्राप्नुवन् (तेजांसि) प्रकाशान् (आददे) लिटि रूपम्। स जग्राह (एव) एवम् (स्त्रीणाम्) नारीणाम् (पुंसाम्) पुरुषाणाम् (च च) समुच्चये

वैसे ही (द्विषताम्) द्वेषी (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च च) और (पुंसाम्) पुरुषों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैंने ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्मी वैरियों को दबा कर ऐसा निस्तेज कर देवे, जैसे सूर्य के निकलने पर तारे निस्तेज हो जाते हैं ॥ १ ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

यावन्तः । मा । स-पत्नानाम् । आ-यन्तम् । प्रति-पश्यथ । उत्-यन् । सूर्यः-इव । सुप्तानाम् । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥२॥

भाषार्थ—(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने लोग तुम (मा आयन्तम्) मुझ आते हुये को (प्रतिपश्यथ) निहारते हो। (द्विषताम्) उन वैरियों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैं लिये लेता हूं (इव) जैसे (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोते हुये पुरुषों का ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के उदय होने पर सोने वाले आलसियों का बल घट जाता है। वैसे ही तेजस्वी पुरुष अपने वैरियों को पराक्रम हीन कर देवे ॥ २ ॥

इतिप्रथमोऽनुवाकः ।

(द्विषताम्) पुमान् स्त्रिया । पाः १ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । द्विषतीनां स्त्रीणां द्विषतां पुरुषाणां च (वर्चः) तेजः (आददे) अहं जग्राह ॥

२—(यावन्तः) यत्परिमाणाः (मा) माम् (सपत्नानाम्) शत्रूणां मध्ये (आयन्तम्) अभिगच्छन्तम् (प्रतिपश्यथ) निरीक्षध्वे (उद्यन्) उद्गच्छन् (सूर्यः) (इव) यथा (सुप्तानाम्) स्वपतां जनानाम् (द्विषताम्) अप्रियकराणाम् (वर्चः) तेजः (आददे) लटि रूपम् । गृह्णामि ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ सविता देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कवि-क्रतुम् ।
अर्चामि । सत्य-सवम् । रत्न-धाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् ॥१॥

भाषार्थ—(त्यम्) उस (देवम्) सुखदाता (ओण्योः) सूर्य और पृथिवी के (सवितारम्) उत्पन्न करने वाले, (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ बुद्धि वा कर्म वाले, (सत्यसवम्) सच्चे ऐश्वर्य वाले, (रत्नधाम्) रमणीय विज्ञानों वा हीरा आदिकों वा लोकों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (मतिम्) मनन करने वाले, परमेश्वर को (अभि अभि) बहुत भले प्रकार (अर्चामि) मैं पूजता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा, प्रजा और सब विद्वान् लोग उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके सदा धर्म के अनुकूल वरतें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से सामवेद में हैं—पू० ५ । ८ । ८ और यजु० ४ । २५ ॥

१—(अभि अभि) सर्वतः सर्वतः (त्यम्) प्रसिद्धम् (देवम्) सुखदातारम् (सवितारम्) उत्पादकम् (ओण्योः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । ओणृ अपनयने-इन् । कृदिकारादक्तिनः । वा० पा० ४ । १ । ४५ । इति ङीप् । द्यावापृथिव्योः—निघ० ३ । ३० (कविक्रतुम्) कविः सर्वज्ञा क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य तम् । कविः क्रान्त दर्शनो भवति कवतेर्वा—निरु० १२ । १३ (अर्चामि) पूजयामि (सत्यसवम्) सत्यैश्वर्ययुक्तम् (रत्नधाम्) रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भवनानि वा दधातीति तम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् । (मतिम्) मनु अवबोधने—क्तिच् । मन्तारम् । मतयो मेधाविनः—निघ० ३ । १५ ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥
ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि ।
हिरण्य-पाणिः । अमिमीत । सु-क्रतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊंची, (अमतिः) व्यापनेवाली (भाः) चमक (सवीमनि) सृष्टि के बीच (अदिद्युतत्) चमकी हुई है । (हिरण्यपाणिः) अन्धकार वा दरिद्रता हरने वाले सूर्य आदि और सुवर्ण आदि तेजों के व्यवहार वाले, (सुक्रतुः) उत्तम बुद्धि वा कर्मवाले उस ईश्वर ने (कृपात्) अपने सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख (अमिमीत) रचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—उस जगदीश्वर की अनन्तशक्ति का विचार करके मनुष्य मोक्ष आनन्द के लिये सदा प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै । अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ ३ ॥
सावीः । हि । देव । प्रथमाय । पित्रे । वर्ष्माणम् । अस्मै ।

२—(ऊर्ध्वा) उत्कृष्टा (यस्य) सवितुः । परमेश्वरस्य (अमतिः) अमेरतिः । उ० ४ । ५९ । अम गतौ—अति । व्यापनशीला (भाः) दीप्तिः (अदिद्युतत्) द्युत दीप्तौ स्वार्थ णिजन्ताच् चङि, रूपम् अद्युतत् । अदीपि (सवीमनि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४९ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे—इमनिन्, वा दीर्घः । सवीमनि प्रसवे-निरु०, ६ । ७ । सृष्टौ (हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि अन्धकारस्य दारिद्र्यस्य वा हरणशीलानि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः (अमिमीत) अ० ५ । १२ । ११ । निर्मितवान् (सुक्रतुः) शोभना क्रतुः प्रज्ञा; कर्म वा यस्य सः (कृपात्) कृपू सामर्थ्ये—क । स्वसामर्थ्यात् (स्वः) स्वर्गं मोक्षसुखम् ॥

वरिमाणम् । अस्मै । अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वार्याणि ।
दिवः-दिवः । आ । सुव । भूरि । पश्वः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू ने (हि) ही (प्रथमाय) हम से पहिले वर्तमान (पित्रे) पालन करने वाले (अस्मै) इस [पुरुष] को और (अस्मै) इस [दूसरे पुरुष] को (वर्ष्माणम्) उच्च स्थान और (वरिमाणम्) फैलाव वा उत्तमपन (सावीः) दिया है । (अथ) सो (सवितः) हे सर्वप्रेरक परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (दिवोदिवः) सब दिनों (वार्याणि) उत्तम विज्ञान और धन और (भूरि) बहुत (पश्वः) मनुष्य, गौ, घोड़ा, हाथी आदि (आ सुव) भेजता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमेश्वर ने हमसे पहिले उपकारी महात्माओं को उच्च पदवी दी है, वैसे ही परमेश्वर की आज्ञा मान कर हम भी सुख के भागी होवें ॥ ३ ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि । पिबात् सोमं ममदंदेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।

३—(सावीः) षू प्रेरणे—लुङ्, अडभावः । प्रेरितवानसि (हि) निश्चयेन (देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (प्रथमाय) अस्मत्प्रथमभवाय (पित्रे) पालकाय । उपकारिणे पुरुषाय (वर्ष्माणम्) अ० ३ । ४ । २ । उन्नतस्थानम् (अस्मै) एकस्मै पुरुषाय (वरिमाणम्) अ० ४ । ६ । २ । उरु यद्वा वर–इमनिच् । उरुत्वं विस्तारम् । वरत्वं श्रेष्ठत्वम् (अस्मै) अन्यस्मै (अथ) तस्मात् (अस्मभ्यम्) (सवितः) हे सर्वप्रेरक (वार्याणि) वरणीयानि विज्ञानानि धनानि वा (दिवोदिवः) दिवसान् दिवसान् (आसुव) अभिमुखं प्रेरय (भूरि) बहूनि (पश्वः) छान्दसं रूपम् । अ० १ । ३० । ३ । पशून् । मनुष्यादिजीवान् । पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ ॥

पितृ-भ्यः । आयूंषि । पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् ।
इष्टे । परि-ज्मा । चित् । क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दमूनाः) दमनशील शान्त स्वभाव, (देवः) व्यवहार-कुशल, (वरेण्यः) स्वीकार योग्य (सविता) चलाने वाला पुरुष (पितृभ्यः) पालन करने वाले विद्वानों के हित के लिये (रत्नम्) रमणीय धन, (दक्षम्) बल और (आयूंषि) जीवन साधनों को (दधत्) धारण करता हुआ (सोमम्) अमृत का (पिबात्) पान करे, और (एनम्) इस [परमेश्वर] को (इष्टे) यज्ञ में (ममदत्) प्रसन्न करे, (परिज्मा) सब ओर चलने वाला पुरुष (चित्) ही (अस्य) इस [परमेश्वर] के (धर्मणि) धर्म अर्थात् नियम में (क्रमते) चला जाता है ॥४॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा करते हैं, और सर्वत्रगति होते हैं, वे ही आनन्द रस पीते हुये ईश्वर की आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

४—(दमूनाः) दमेरुनसि । उ० ४ । २३५ । दमु उपशमे—उनसि, वा दीर्घः । दमिता । शान्तस्वभावः । दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा । अथवा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः–निरु० ४ । ४ (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) नायकः पुरुषः (वरेण्यः) वृञ्एण्यः । उ० ३ । ९८ । वृञ् वरणे-एण्य । स्वीकरणीयः (दधत्) धारयन् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (दक्षम्) बलम् (पितृभ्यः) पालकानां विदुषां हिताय (पिबात्) लेटि रूपम् । पिबेत् (सोमम्) अमृतरसम् (ममदत्) लेडर्थे माद्यतेर्ण्यन्तात्, लुङि, चङि रूपम् । मदयेत् । तर्पयेत् (एनम्) अन्तर्यामिनं जगदीश्वरम् (इष्टे) यज्ञे (परिज्मा) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । अज गतिक्षेपणयोः कनिन्, मुडागमः, अकारलोपः । परितोगन्ता । सर्वत्रगतिः पुरुषः (चित्) एव (क्रमते) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः पा० ३ । १ । ३८ । इत्यात्मनेपदम् । अप्रतिबद्धो गच्छति (अस्य) परमेश्वरस्य (धर्मणि) धारणीये नियमे ॥

सूक्तम् १५ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कृत्य का उपदेश ॥

तां स॑वि॒तुः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम् । याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑ह॒त् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥ १ ॥

ताम् । स॒वि॒तुः । स॒त्य-स॑वाम् । सु॒-चि॒त्राम् । आ । अ॒हम् । वृ॒णे॒ । सु॒-म॒तिम् । वि॒श्व-वा॑राम् । याम् । अ॒स्य॒ । कण्वः॑ । अदु॑हत् । प्र-पी॑नाम् । स॒हस्र॑-धाराम् । म॒हि॒षः । भगा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सब ऐश्वर्य वाले आचार्य ! (ताम्) उस (सत्यसवाम्) सत्य ऐश्वर्यवाली, (सुचित्राम्) बड़ी विचित्र, (विश्ववाराम्) सब से स्वीकार करने योग्य (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषयवाली बुद्धि] को (अहम्) मैं (आ) आदरपूर्वक (वृणे) मांगता हूं, (याम्) जिस (प्रपीनाम्) बहुत बढ़ी हुई, (सहस्रधाराम्) सहस्रों विषयों की धारण करनेवाली [सुमति] को (अस्य) इस [जगत्] के (भगाय) ऐश्वर्य के लिये (कण्वः) मेधावी, (महिषः) पूजनीय परमात्मा ने (अदुहत्) परिपूर्ण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—तपस्वी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी योगी, आप्त विद्वान् पुरुषों से संसार के हित के लिये परमेश्वरदत्त वेद द्वारा अपनी बुद्धि को बढ़ाते रहें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ७४ ॥

१—(ताम्) (सवितः) सर्वैश्वर्यवन्नाचार्य (सत्यसवाम्) सत्यैश्वर्ययुक्ताम् (सुचित्राम्) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चिञ् चयने-क्त । सुचयनीयाम् । महाविचित्रविषयाम् (आ) अङ्गीकारे (अहम्) स्त्री पुरुषो वा (वृणे) याचे (सुमतिम्) शोभनां यथाविषयां प्रज्ञाम् (विश्ववाराम्) सर्वैर्वरणीयाम् (याम्) सुमतिम् (अस्य) प्रसिद्धस्य जगतः (कण्वः) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी निघ० ३ । १५ (अदुहत्) परिपूरितवान् (प्रपीनाम्) प्यायतेः-क्त, पीभावः । प्रवृद्धाम् (सहस्रधाराम्) सहस्रमसंख्यानर्थान् धरति ताम् (महिषः) अ० २ । २५ । ४ । पूजनीयः परमेश्वरः (भगाय) ऐश्वर्याय ॥

सूक्तम् १६ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय । संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्वे एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

बृहस्पते । सवितः । वर्धय । एनम् । ज्योतय । एनम् । महते । सौभगाय । सम्-शितम् । चित् । सम्-तरम् । सम् । शिशाधि । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बड़े सज्जनों के रक्षक ! (सवितः) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त उपदेशक ! (एनम्) इस [राजा] को (महते) बड़े (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (वर्धय) बढ़ा और (ज्योतय) ज्योति वाला कर। (चित्) और (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (एनम्) इस [राजा] को (सन्तरम्) अतिशय करके (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् सभ्य लोग (एनम्) इस [राजा] के (अनु मदन्तु) अनुकूल प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजसभा का उपदेशक राजा आदि सज्जनों को उत्तम उत्तम उपदेश द्वारा सुशीलता प्राप्त कराके ऐश्वर्य बढ़ाने में प्रवृत्त करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-अ० २७ । ८ ॥

१—(बृहस्पते) बृहतां सज्जनानां पालक (सवितः) विद्यैश्वर्ययुक्तोपदेशक (वर्धय) समर्धय (एनम्) राजानम् (ज्योतय) ज्योतते, ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । ज्योतिर्वन्तं प्रतापिनं कुरु (एनम्) (महते) विशालाय (सौभगाय) उत्तमैश्वर्यभावाय (संशितम्) शो तनूकरणे-क्त । तीक्ष्णबुद्धिम् (चित्) अपि (संतरम्) समस्तरपि प्रत्यये । अमुचच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १२। इति अम् । अतिशयेन (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४ । ३१ । ४ । शाधि । शिक्षय (विश्वे) सर्वे (एनम्) (अनु) अनुलक्ष्य (मदन्तु) आनन्दन्तु (देवाः) विद्वांसः सभ्याः ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ धाता देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थकृत्योपदेशः—गृहस्थ के कर्म का उपदेश ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगतः । पतिः । सः ।
नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ईशानः) ऐश्वर्यवान् (जगतः पतिः) जगत् का पालने वाला, (धाता) धाता विधाता [सृष्टि कर्त्ता] (नः) हमें (रयिम्) धन (दधातु) देवे । (सः) वही (नः) हमको (पूर्णेन) पूर्ण बल से (यच्छतु) ऊंचा करे ॥ १ ॥

भावार्थ-गृहस्थ लोग जगतपति परमात्मा के अनुग्रह से प्रयत्न करके धन और बल बढ़ाकर सुखी रहें ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् ।
वयम् । देवस्य । धीमहि । सु-मतिम् । विश्व-राधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का पोषण करने वाला ईश्वर (दाशुषे) उदारचित पुरुष को (प्राचीम्) अच्छे प्रकार आदर योग्य (अक्षिताम्) अक्षय

१—(धाता) सर्वस्य विधाता—निरु० ११ । १० । सृष्टिकर्ता (दधातु) ददातु (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (ईशानः) ईश्वरः (जगतः) (पतिः) पालकः (सः) धाता (नः) अस्मान् (पूर्णेन) समस्तेन बलेन (यच्छतु) यम-लोट् । उद्यच्छतु । उन्नयतु ॥

२—(धाता) सर्वपोषकः (दधातु) ददातु (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १। दानशीलाय (प्राचीम्) प्रकर्षेण पूज्याम् (जीवातुम्) अ० ६ । ५ । २ ।

(जीवातुम्) जीविका (दधातु) देवे । (विश्वराधसः) सर्वधनी (देवस्य) प्रकाश स्वरूप ईश्वर की (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषय वाली बुद्धि] को (वयम्) हम (धीमहि) धारण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के धारण पोषण आदि गुणों के चिन्तन से बुद्धि बढ़ा कर धनी और बली होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि, सीमन्तोन्नयन में और निरुक्त ११ । ११ । में आया है ।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजा-कामाय । दाशुषे । दुरोणे । तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का धारण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब (वार्या) उत्तम विज्ञान और धन (प्रजाकामाय) प्रजा, उत्तम सन्तान भृत्य आदि चाहने वाले (दाशुषे) दानशील पुरुष को (दुरोणे) उसके घर में (दधातु) देवे । (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग और (देवाः) उत्तम गुण और (सजोषाः) समान प्रीतिवाली (अदितिः) अदीन भूमि (तस्मै)

जीविकाम्—निरु० ११ । ११ (अक्षिताम्) अक्षीणाम् (वयम्) पुरुषार्थिनः (देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (धीमहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः-विधिलिङ् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । आर्धधातुकत्वाच्छप् न । आतो लोप इटि च । पा० ६ । ४ । ६४ । आकारलोपः । दधीमहि । धरेम (सुमतिम्) कल्याणीं मतिम् (विश्वराधसः) सर्वधनिनः ॥

३—(धाता) (विश्वा) सर्वाणि (वार्या) उत्तमानि विज्ञानानि धनानि च (दधातु) प्रयच्छतु (प्रजाकामाय) उत्तमसन्तानभृत्यादीच्छवे (दुरोणे) अ० ५ । २ । ६ । गृहे (तस्मै) पुरुषाय (देवाः) विद्वांसः (अमृतम) अमरणम् । पूर्णसुखम् (सम्) सम्यक् (व्ययन्तु) व्यय गतौ, वित्तसमुत्सर्गे च ।

उस पुरुष को (अमृतम्) अमृत [पूर्ण सुख] (सम) यथावत् (व्ययन्तु) पहुंचावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की संगति, उत्तम गुणों की प्राप्ति और भूगोल विद्या की उन्नति से विज्ञानपूर्वक सुख-वृद्धि करें ॥ ३ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजा-पतिः । निधि-पतिः । नः । अग्निः । त्वष्टा । विष्णुः । प्र-जया । सम्-रराणः । यजमानाय । द्रविणम् । दधातु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सविता) सर्वप्रेरक, (धाता) धारण करने वाला, (रातिः) दानाध्यक्ष, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (निधिपतिः) निधिपति [कोशाध्यक्ष] और (अग्निः) अग्नि समान [अविद्या रूपी अन्धकार का नाश करने वाला] विद्वान् पुरुष [यह सब अधिकारी](नः) हमारे (इदम्) इस [गृहस्थ कर्म] को (जुषन्ताम्) सेवन करें । (विष्णुः) सर्व व्यापक, (संरराणः) सम्यक् दाता, (त्वष्टा) निर्माता परमेश्वर (प्रजया) प्रजा के सहित वर्तमान (यजमानाय) पदार्थों के संयोजक वियोजक विज्ञानी को (द्रविणम्) बल वा धन (दधातु) देवे ॥ ४ ॥

गमयन्तु । ददतु (विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः (अदितिः) अदीना पृथिवी (सजोपाः) समानप्रीतिः ॥

४—(धाता) धारकः (रातिः) कर्तरि क्तिच् । दानाध्यक्षः (सविता) नायकः (इदम्) दृश्यमानं गृहस्थकर्म (प्रजापतिः) प्रजापालकः (निधिपतिः) कोशाध्यक्षः (नः) अस्माकम् (अग्निः) अग्नितुल्योऽविद्यान्धकारदाहको विद्वान् (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सृष्टिकर्त्ता (विष्णुः) सर्वव्यापकः (प्रजया) (संरराणः) अ० २ । ३४ । ३ । सम्यग् दाता (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकविज्ञानिने (द्रविणम्) बलं धनं वा (दधातु) ददातु ॥

भावार्थ—जैसे राजा राज्य की उन्नति के लिये अनेक अधिकारी रखता है, वैसे ही गृहस्थ लोग घर का प्रबन्ध करके परमेश्वर के अनुग्रह से बल और धन बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८ । १७ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

दूरदर्शित्वोपदेशः—दूरदर्शी होने का उपदेश ॥

प्र नंभस्व पृथिवि भिन्द्धी३'दं दि॒व्यं नभः ।
उद्नो दि॒व्यस्यं नो धातरीशानो वि ष्या॑ दृतिम् ॥ १ ॥

प्र । नुभस्व । पृथि॒वि॒ । भि॒न्द्धि । इ॒दम् । दि॒व्यम् । नभः ।
उद्नः । दि॒व्यस्यं । नः । धा॒तः । ईशा॑नः । वि । स्य॒ । दृ॒तिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे अन्तरिक्ष! [वायु] (इदम्) इस (दिव्यम्) आकाश में छाये हुये (नभः) जल को (प्र) उत्तम रीति से (नभस्व) गिरा और (भिन्द्धि) छिन्न भिन्न कर दे [फैला दे] । (धातः) हे पोषक, सूर्य! (ईशानः) समर्थ तू (नः) हमारे लिये (दिव्यस्य) दिव्य [उत्तम गुण वाले] (उद्नः) जलके (दृतिम्) पात्र [मेघ] को (वि ष्य) खोल दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ वायु और सूर्य के संयोग वियोग सामर्थ्य से आकाश से जल बरस कर संसार का उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या आदि शुभ गुणों की बरसा से उपकार करें ॥ १ ॥

१—(प्र) प्रकर्षेण (नभस्व) नभते, वधकर्मा–निघ० २ । १६ । पातय (पृथिवि) अन्तरिक्ष—निघ० १ । ३ । वायो इत्यर्थः (भिन्द्धि) छिन्नं भिन्नं कुरु (इदम्) (दिव्यम्) दिव्याकाशे भवम् (नभः) उदकम्—निघ० ११ । १२ । (उद्नः) पद्दन्नोमासहृन्निश० । पा० ६ । १ । ६३ । उदकस्य, उदन् । उदकस्य (दिव्यस्य) उत्तमगुणस्य (नः) अस्मभ्यम् (धातः) हे पोषक सूर्य (ईशानः) समर्थः (वि ष्य) षो अन्तकर्मणि । विमुञ्च (दृतिम्) दृणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । इति दृ विदारणे—ति । चर्ममयं जलपात्रम् ॥

न घ्रंस्त॑ताप॒ न हि॒मो ज॑घान॒ प्र न॑भतां पृथि॒वी जी॒रदा॑नुः।
आप॑श्चिदस्मै घृ॒तमित् क्ष॑रन्ति॒ यत्र॒ सोमः॒ सद॒मित्
तत्र॑ भ॒द्रम् ॥ २ ॥

न । घ्रन् । त॒ताप॑ । न । हि॒मः । ज॒घान॑ । प्र । न॒भ॒ताम् । पृ॒थि॒वी । जी॒र-दा॑नुः । आपः॑ । चि॒त् । अ॒स्मै॒ । घृ॒तम् । इत् । क्षर॑न्ति॒ । यत्र॑ । सोमः॑ । सद॑म् । इत् । तत्र॑ । भ॒द्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—((घ्रन्) चमकता हुआ सूर्य (न तताप) न तपावे (न) न (हिमः) शीत (जघान) मारे, [किन्तु] (जीरदानुः) गति देनेवाला (पृथिवीः) अन्तरिक्ष [जल को] (प्र) अच्छे प्रकार (नभताम्) गिरावे । (आपः) सब प्रजायें (चित्) भी (अस्मै) इस [जगत्] के लिये (घृतम्) सार रस (इत्) ही (क्षरन्ति) बरसती हैं, (यत्र) जहां (सोमः) ऐश्वर्य है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) कल्याण है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे दूरदर्शी ऐश्वर्यवान् पुरुष ठीक ठीक वृष्टि से लाभ उठाकर अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अतिशीत के दुःखों से बचे रहते हैं। वैसे ही ज्ञानी पुरुष शान्त स्वभाव परमात्मा के विचार से आत्मिक क्लेशों से अलग रहकर मङ्गल मनाते हैं ॥ २ ॥

२—(न) निषेधे (घ्रन्) घृ भासे—शतृ, अकारलोपः। घरन्। भासमानः सूर्यः (तताप) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लिङर्थे—लिट् । तापयेत् (न) (हिमः) हन्तेर्हि च । उ० १ । १४७ । हन्तेर्मक् । शीतलस्पर्शः (जघान) हन्यात् (प्र) प्रकर्षेण (नभताम्)—म० १ । हन्तु । पातयतु, नभ इति शेषः—म० १ (पृथिवी) अन्तरिक्षम् (जीरदानुः) जीर-दानुः । जोरी चः । उ० २ । २३ । जु गतौ—रक्, ईकारादेशः । जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५ । दाभाभ्यां नुः । ३ । ३२ । इति ददातेर्नुः । गतिप्रदा (आपः) सर्वाः प्रजाः (चित्) अपि (अस्मै) जगते (घृतम्) तत्त्वरसम् (क्षरन्ति) सिञ्चन्ति (यत्र) (सोमः) ऐश्वर्यम् (सदम्) सर्वदा (तत्र) (भद्रम्) कल्याणम् ॥

सूक्तम् १९ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—बढ़ती करने का उपदेश ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु १

प्रजा-पतिः । जनयति । प्र-जाः । इमाः । धाता । दधातु ।
सु-मनस्यमानः । सम्-जानानाः । सम्-मनसः । स-योनयः ।
मयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (इमाः) इन सब (प्रजाः) सृष्टि के जीवों को (जनयति) उत्पन्न करता है, वह (सुमनस्यमानः) शुभचिन्तक (धाता) पोषक परमात्मा [इनका] (दधातु) पोषण करे [जो] (संजानानाः) एक ज्ञान वाली, (संमनसः) एक मन वाली और (सयोनयः) एक कारण वाली हैं, (पुष्टपतिः) वह पोषण का स्वामी [प्रजायें] (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषण (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के प्रजापालकत्व आदि गुणों का विचार कर के प्रीतिपूर्वक अपनी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-६ ॥ अनुमतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३—५ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

मनुष्यकर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्य्ज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

१—(प्रजापतिः) सृष्टिपालकः परमात्मा (जनयति) उत्पादयति (प्रजाः) सर्वाः सृष्टीः (इमाः) परिदृश्यमानाः (धाता) पोषकः (दधातु) पोषयतु (सुमनस्यमानः) अ० १ । ३५ । १ । शुभचिन्तकः (संजानानाः) समानज्ञानाः (संमनसः) संगतमनस्काः (सयोनयः) समानकारणाः प्रजाः (मयि) उपासके (पुष्टम्) पोषम् (पुष्टपतिः) पोषस्य रक्षकः (दधातु) (धरयतु) ॥

अ॒ग्निश्च॑ हव्य॒वाह॑नो भव॑तां दा॒शुषे॒ मम॑ ॥ १ ॥

अनु॑ । अ॒द्य । नः॒ । अनु॑-मतिः । य॒ज्ञम् । दे॒वेषु॑ । म॒न्य॒ता॒म् । अ॒ग्निः । च॒ । ह॒व्य॒-वाह॑नः । भव॑ताम् । दा॒शुषे॑ । मम॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति, अनुकूल बुद्धि (अद्य) आज (नः) हमारे (यज्ञम्) संगति व्यवहार को (देवेषु) विद्वानों में (अनु मन्यताम्) निरन्तर माने । (च) और (अग्निः) अग्नि [पराक्रम] (मम दाशुषे) मुझ दाता के लिये (हव्यवाहनः) ग्राह्य पदार्थों का पहुंचाने वाला (भवतम्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धार्मिक व्यवहारों में अनुकूल बुद्धिवाले और पराक्रमी होते हैं, वेही उत्तम पदार्थों को पाकर सुखी होते हैं ॥ १ ॥

निरुक्त ११ । २६ के अनुसार (अनुमति) पूर्णमासी का नाम है । अर्थात् हमारा समय पौर्णमासी के समान पुष्टि और हर्ष करनेवाला हो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३४ । ६ ॥

अन्विद॑नुमते॒ त्वं मंस॑से॒ शं च॑ नस्कृधि ।

जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु॑ । इत् । अ॒नु॒-म॒ते॒ । त्वम् । मंस॑से । शम् । च॒ । नः॒ । कृ॒धि॒ । जु॒षस्व॑ । ह॒व्यम् । आ-हु॑तम् । प्र॒-जाम् । दे॒वि॒ । र॒रा॒स्व॒ । नः॒ ॥ २ ॥

१—(अनु) निरन्तरम् (अद्य) अस्मिन् दिने (नः) अस्माकम् (अनुमतिः) अ० १ । १८ । २ । अनुकूला बुद्धिः । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते । अनुमतिरनुमननात्—निरु० ११ । २६ । (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (देवेषु) विद्वत्सु (मन्यताम्) जानातु । ज्ञापयतु (अग्निः) पराक्रमः (च) (हव्यवाहनः) हव्येऽनन्तः पादम् । पा० । ३ । २ । ६६ । इति हव्य+वह प्रापणे ञ्युट् । ग्राह्यपदार्थस्य प्रापकः (भवताम्) आत्मनेपदं छान्दसम् । भवतात् (दाशुषे) दानशीलाय (मम) चतुर्थ्यां षष्ठी । मह्यम् ॥

भाषार्थ—(अनुमते) हे अनुमति ! [अनुकूल बुद्धिः] (त्वम्) तू (इत्) अवश्य [हमारी प्रार्थना] (अनु मंससे) सदा मानती रहे, (च) और (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याण (कृधि) कर। (हव्यम्) ग्रहण योग्य (आहुतम्) यथावत् दिया पदार्थ (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) सन्तान भृत्य आदि (ररास्व) दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि द्वारा पथ्य कुपथ्य विचार कर युक्त आहार विहार करके उत्तम सन्तान और भृत्य आदि पाकर सुख भोगें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से यजु० में है—३४ । ८ ॥

अनु॑ मन्यताम॒नु॒मन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् । तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ माऽपि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सुम॒तौ स्या॑म ३

अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् । अ॒नु॒-मन्य॑मानः । प्र॒जा-व॑न्तम् । र॒यिम् । अक्षी॑यमाणम् । तस्य॑ । व॒यम् । हेड॑सि । मा । अपि॑ । भू॒म॒ । सु॒-मृ॒डी॒के । अ॒स्य॒ । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अनुमन्यमानः) निरन्तर जानने वाला परमेश्वर (प्रजावन्तम्) उत्तम सन्तान, भृत्य आदि वाला, (अक्षीयमाणम्) न घटने वाला (रयिम्) धन (अनु) अनुग्रह करके (मन्यताम्) जतावे। (वयम्) हम (तस्य) उसके (हेडसि) क्रोध में (अपि) कभी (मा भूम) न होवें, (अस्य)

२—(अनु) निरन्तरम् (इत्) एव (अनुमते)-म०१। अनुकूलबुद्धे (त्वम्) (मंससे) मन ज्ञाने अवबोधने च—लेट्। सिब्बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४। इति सिप्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ६४। इत्यट्। अवमन्येथाः (शम्) कल्याणम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (जुषस्व) स्वीकुरु (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्) समन्तात् समर्पितम् (प्रजाम्) सन्तानभृत्यादिरूपाम् (देवि) दिव्यगुणे (ररास्व) रातेः शपः श्लुः, आत्मने पदं च। देहि ॥

३—(अनु) सर्वदा (मन्यताम्) ज्ञापयतु (अनुमन्यमानः) निरन्तरं मन्ता ज्ञाता परमेश्वरः (प्रजावन्तम्) प्रशस्तसन्तानभृत्यादियुक्तम् (रयिम्) धनम् (अक्षीयमाणम्) क्षि क्षये—शानच्। अक्षीणम् (तस्य) ईश्वरस्य (वयम्)

इसके (सुमृडीके) उत्तम सुख में और (सुमतौ) सुमति [कल्याणी बुद्धि] में (स्याम) बने रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक रीति में प्राप्त किये धन से प्रजा पालन करके ईश्वर की आज्ञा में सुखके साथ सदा वर्तमान रहें ॥ ३ ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु । तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सु-हवम् । सु-प्रनीते । अनु-मते । अनु-मतम् । सु-दानु । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्व-वारे । रयिम् । नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुप्रणीते) हे उत्तम नीतिवाली ! [वा. भले प्रकार चलाने वाली] (अनुमते) अनुमति ! [अनुकूल बुद्धि] (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) नाम [यश] (सुहवम्) आदर से आवाहन योग्य, (सुदानु) बड़ा दानी (अनुमतम्) निरन्तर माना गया है । (विश्ववारे) हे वरणीय पदार्थों वाली ! (तेन) उस [अपने यश] से (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरण कर दे, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (नः) हमें (सुवीरम्) अच्छे वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दे ॥ ४ ॥

(हेडसि) क्रोधे—निघ० २ । १३ । (अपि) कदापि (मा भूम) न स्याम (सुमृडीके) मृडः कीकचकङ्कणौ । उ० ४ । २४ । इति मृड सुखने—कीकच् । शोभने सुखे (अस्य) (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ (स्याम) भवेम ॥

४—(यत्) (ते) तव (नाम) यशः (सुहवम्) आदरेण ह्वातव्यम् (सुप्रणीते) शोभननीतियुक्ते । सुष्ठुप्रणेत्रि (अनुमते) (अनुमतम्) निरन्तरं ज्ञातम् (सुदानु) शोभनदानयुक्तम् (तेन) नाम्ना (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (पिपृहि) पूरय (विश्ववारे) हे सर्वैर्वरणीयैः पदार्थैर्युक्ते (रयिम्) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (सुभगे) प्रभूतैश्वर्ययुक्ते (सुवीरम्) महद्भिर्वीरैर्युक्तम् ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वमाननीय ज्ञान द्वारा धन आदि पदार्थ प्राप्त करके कीर्तिमान् होवें ॥ ४ ॥

एमं युज्ञमनु॑मतिर्जगाम सुक्षे॒त्रतायै सुवी॒रतायै॒ सुजा॑तम् । भुद्रा ह्य॑स्याः प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं युज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥

आ । इ॒मम् । यु॒ज्ञम् । अनु॑-मतिः । ज॒गा॒म॒ । सु॒-क्षे॒त्रता॑यै । सु॒-वी॒रता॑यै । सु-जा॑तम् । भ॒द्रा । हि । अ॒स्याः । प्र-म॑तिः । ब॒भूव॑ । सा । इ॒मम् । यु॒ज्ञम् । अ॒व॒तु॒ । दे॒व-गो॑पा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (सुजातम्) बहुत प्रसिद्ध (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [संगति व्यवहार] में (सुक्षेत्रतायै) अच्छी भूमियों और (सुवीरतायै) साहसी वीरों की प्राप्ति के लिये (आ जगाम) आई है । और (अस्याः) इसकी (हि) ही (प्रमतिः) अनुग्रह बुद्धि (भद्रा) कल्याणी (बभूव) हुई है, (सा) वही (देवगोपा) विद्वानों की रक्षिका [अनुमति] (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की (अवतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य वेदद्वारा सत्यज्ञान पाकर चक्रवर्ती राज्य और उत्साही वीरों के पराक्रम से सुखवृद्धि करते रहें, वैसे ही मनुष्य अनुकूल मति से प्रतिकूल बुद्धि छोड़कर सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

५—(इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (अनुमतिः) अनुकूला बुद्धिः (आ जगाम) प्राप (सुक्षेत्रतायै) शोभनानां भूमीनां प्राप्तये (सुवीरतायै) उत्साहिनां वीराणां लाभाय (सुजातम्) सुप्रसिद्धम् (भद्रा) कल्याणी (अस्याः) अनुमतेः (प्रमतिः) अनुग्रहबुद्धिः (बभूव) (सा) अनुमतिः (इमम्) (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (अवतु) रक्षतु (देवगोपा) आयादयः आर्धधातुके वा । पा० ३ । १ । ३१ । इत्यायप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् देव + गुपू रक्षणे—अच्, टाप् । विदुषां गोप्त्री रक्षित्री ॥

अनु॑मतिः सर्वमि॒दं ब॑भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति । तस्या॑स्ते देवि सुम॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अनु॑-मतिः । सर्व॑म् । इ॒दम् । ब॒भू॒व॒ । यत् । तिष्ठ॑ति । चर॑ति । यत् । ऊं॒ इति॑ । च॒ । विश्व॑म् । एज॑ति । तस्याः॑ । ते॒ । दे॒वि॒ । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ । अनु॑-मते । अनु॑ । हि॒ । मंस॑से । नः॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (इदम्) इस (सर्वम्) सब में (बभूव) व्यापी है, (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) खड़ा होता है, (चरति) चलता है, (च) और (विश्वम्) सब (यत् उ) जो कुछ भी (एजति) चेष्टा करता है [हाथ पांव चलाता है] । (देवि) हे देवी ! (तस्याः ते) उस तेरी (सुमतौ) सुमति [अनुग्रहबुद्धि] में (स्याम) हम रहें, (अनुमते) हे अनुमति ! तू (हि) ही (नः) हमें (अनु) अनुग्रह से (मंससे) जानती रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिकूलता त्यागकर प्रत्येक कर्तव्य में अनुकूलता देवी का ध्यान रखते हैं । वेही परमेश्वर के कृपापात्र होते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

ईश्वराज्ञापालनोपदेशः—ईश्वर की आज्ञा के पालन का उपदेश ॥

समे॑त॒ विश्वे॒ वच॑सा॒ पतिं॑ दि॒व एको॑ वि॒भूरति॑थि॒र्जना॑-

६—(अनुमतिः) म० १ । अनुकूला बुद्धिः (सर्वम्) समस्तं जगत् (इदम्) दृश्यमानम् (बभूव) भू प्राप्तौ । प्राप (यत्) जगत् (तिष्ठति) स्थित्या वर्तते (चरति) गच्छति (यत्) (उ) अपि (च) (विश्वम्) सर्वम् (एजाति) एज कम्पने । साहसेन चेष्टते (तस्याः) तादृश्याः (ते) तव (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (स्याम) भवेम (अनु) अनुग्रहेण (हि) अवश्यम् (मंससे) म० २ । जानीयः (नः) अस्मान् ॥

नाम् । स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वा-
वृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

सम्-एत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । वि-भूः ।
अतिथिः । जनानाम् । सः । पूर्व्यः। नूतनम् । आ-विवासत् ।
तम् । वर्तनिः । अनु । ववृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब लोगो! (वचसा) वचन [सत्य वचन] से (दिवः) सूर्य के (पतिम्) स्वामी से (समेत) आकर मिलो, (एकः) वह एक (विभूः) सर्वव्यापक प्रभु (जनानाम्) सब मनुष्यों का (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य] है। (सः) वह (पूर्व्यः) सब का हितकारी ईश्वर (नूतनम्) इस नवीन [जगत्] को (आविवासत्) विविध प्रकार निवास कराता है, (वर्तनिः) प्रत्येक वर्तने योग्य मार्ग (तम् एकम् अनु) उस एक [परमात्मा] की ओर (इत्) ही (पुरु) अनेक प्रकार से (ववृते) घूमा है ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अपने आकर्षण में रखकर इस नूतन जगत् का [जिसमें नित्य नये आविष्कार होते हैं] धारण करता है, विद्वान् लोग उसी की महिमा को खोजते जाते हैं ॥ १ ॥

१—(समेत) आगत्य संगच्छध्वम् (विश्वे) सर्वे जनाः (वचसा) सत्यवचनेन (पतिम्) स्वामिनम् (दिवः) सूर्यलोकस्य (एकः) अद्वितीयः (विभूः) सर्वव्यापकः प्रभुः (अतिथिः) ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्य० । उ० ४ । २ । इति अत सातत्यगमने-इथिन् । अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति । अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा । अथमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव—निरु० ४ । ५ । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः । विद्वान् । अभ्यागतः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (सः) विभूः (पूर्व्यः)अ० ४ । १ । ६ । पूर्वाय समस्ताय हितः (नूतनम्) अभिनवं जगत्, नित्यं नवीनाविष्कारपदत्त्वात् (आविवासत्) आङ्+वि+वस निवासे—णिच्—लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । शप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः, इकारलोपश्च । समन्तात् विविधं निवासयति (तम्) (वर्तनि) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । वृतु वर्तने—अनि । मार्गः (अनु) प्रति (ववृते) वृतु-लिट् । वर्तते स्म (एकम्) परमात्मानम् (इत्) एव (पुरु) पुरुधा । अनेकधा ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-२ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ १ अक्षरपङ्क्तिः ; २ त्रिपादनुष्टुप् ॥

विज्ञानप्राप्त्युपदेशः—विज्ञान की प्राप्ति का उपदेश ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः । वि-धर्मणि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (नः कवीनाम् सहस्रम्) हम सहस्र बुद्धिमानों में (आ) व्यापकर (दृशे) दर्शन के लिये (विधर्मणि) विरुद्धधर्मी [पञ्चभूत रचित स्थूल जगत्] में (मतिः) ज्ञानस्वरूप और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप है ॥१॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने संसार में परमात्मा की महिमा निहार कर विद्वान् लोग विज्ञान, शिल्प आदि के नये नये आविष्कार करते हैं ॥१॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

ब्रध्नः । समीचीः । उषसः । सम् । ऐरयन् । अरेपसः । स-चेतसः । स्वसरे । मन्युमत्-तमाः । चिते । गोः । ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ब्रध्नः) नियम में बांधने वाले [सूर्यरूप] परमेश्वर ने (समीचीः) परस्पर मिली हुई, (अरेपसः) निर्मल, (सचेतसः) समान

१—(अयम्) सर्वत्रानुभूयमानः परमेश्वरः (आ) व्याप्य (नः) अस्माकम् (दृशे) दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर्—के । दर्शनाय (कवीनाम्) मेधाविनाम् (मतिः) चित्स्वरूपः (ज्योतिः) प्रकाशरूपः (विधर्मणि) विरुद्धधर्मवति पञ्चभूतनिर्मिते जगति ॥

२—(ब्रध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ इति बन्ध बन्धने—नक्, ब्रध इत्यादेशः । ब्रध्नः=अश्वः—निघ० १ । १४ । महान्—३ । ३ । बन्धको नियामकः ।

चेताने वाली, (मन्युमत्तमाः) अत्यन्त चमकने वाली (उपसः) उषाओं को (स्वसरे) दिनमें (गोः) पृथिवी के (चिते) ज्ञान के लिये (सम्) यथावत् (ऐरयन्) भेजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर, सूर्य के आकर्षण द्वारा पृथिवी के घुमाव से रात्रि के पश्चात्, प्रकाश करता है। वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान नाश करके ज्ञान के साथ प्रकाशमान होते हैं ॥२॥

इतिद्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २३ ॥

१ ॥ प्रजा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्म्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

दौः-स्वप्न्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः ।
दुः-नाम्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥१॥

सूर्यः। सूर्यादीनामकर्षकः परमात्मा (समीचीः) संगताः (उपसः) प्रभातवेलाः (सम्) सम्यक् (ऐरयन्) बहुवचनं छान्दसम्। ऐरयत्। प्रेरितवान् (अरेपसः) निर्मलाः (सचेतसः) समान चेतनकारिणीः (स्वसरे) दिने-निघ० १। ६। (मन्युमत्तमाः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३। २०। इति मन दीप्तौ-युच्। मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा । मन्यन्त्यस्मादिषवः-निरु० १०। २९। अतिशयेन दीप्तयुक्ताः (चिते) चिती संज्ञाने-क्विप्। ज्ञानाय (गोः) भूमेः ॥

भाषार्थ—(दौष्वप्न्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा की सुनीति से प्रजा गण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । १७ । ५ ।

सूक्तम् २४ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

यन्न इन्द्रो अखनुद् यद॒ग्निर्विश्वे॑ दे॒वा म॒रुतो॒ यत् स्व॒र्काः । तद॒स्मभ्यं॑ सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा प्र॒जाप॑तिरनु॑म-ति॒र्नि य॑च्छात् ॥ १ ॥

यत् । नः॒ । इन्द्रः॑ । अखनत् । यत् । अ॒ग्निः । विश्वे॑ । दे॒वाः । म॒रुतः॑ । यत् । सु॒-अ॒र्काः । तत् । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒वि॒ता । स॒त्य-ध॑र्मा । प्र॒जा-प॑तिः । अनु॑-मतिः । नि । य॒च्छा॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ऐश्वर्य] (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने और (यत्) जो (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी पुरुष ने (अखनत्) खोदा है, और (यत्) जो (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल,

---

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ४ । १७ । ५ ॥

१—(यत्) ऐश्वर्यम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो मनुष्यः (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (यत्) (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (विश्वे) सर्वे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः (यत्)

(स्वर्काः) बड़े वज्रवाले (मरुतः) शूर लोगों ने [खोदा है]। (तत्) वह [वैसाही ऐश्वर्य] (अस्मभ्यम्) हमें (सत्यधर्म्मा) सत्य धर्मी, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाला (सविता) सृष्टिकर्ता परमेश्वर (नि) नियम पूर्वक (यच्छात्) देता रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऐश्वर्यवान्, प्रतापी, व्यवहार निपुण, शूरवीर पुरुषों ने ऐश्वर्य पाया है। इसी प्रकार विज्ञानी सत्यपराक्रमी पुरुष परमेश्वर के अनन्त कोश से ऐश्वर्य पाते रहें ॥ १ ॥

(मरुतः) शब्द का विशेष विवरण अ० १ । २० । १ । में देखो॥

सूक्तम् २५ ॥

१-२ ॥ विष्णुवरुणौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश॥

यय़ोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः १

यय़ोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीर-तमा । शविष्ठा । यौ । पत्येते इति । अप्रति-इतौ । सहः-भिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्व-हूतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कभिता) थमे हुये हैं, (यौ) जो दोनों (वीर्यैः) अपने

ऐश्वर्यम् (स्वर्काः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायां क, चस्य कः । अर्कः=अन्नम्-निघ० २ । ७ । वज्रः-२ । २० । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना०-निरु० ५ । ४ । शोभनान्नाः । सुवज्रिणः । सुपण्डिताः । सुमन्त्रिणः (तत्) ऐश्वर्यम् (अस्मभ्यम्) (सविता) सर्वस्रष्टा (सत्यधर्मा) सत्यानि धर्माणि धारणसामर्थ्यानि यस्य सः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (अनुमतिः) अनुकूलो मतिर्बुद्धिर्यस्य सः (नि) नियमेन (यच्छात्) दद्यात् ॥

१—(ययोः) विष्णुवरुणयोः (ओजसा) बलेन (स्कभिता) स्कम्भ स्तम्भे—क्त, शलोपः । स्तभितानि । दृढीकृतानि (रजांसि) लोकाः-निरु० ४ ।

पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर और (शविष्ठा) महावली हैं, (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने वलों से (अप्रतीतौ) न रुकने वाले होकर (पत्येते) ऐश्वर्यवान् हैं, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील [वा सूर्य समान प्रतापी] राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ [वा जल समान उपकारी] मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब लोगों का आवाहन (अगन्) पहुंचा है॥ १॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री वलवान् और धार्मिक होते हैं, वहां प्रजागण उनका सदा सन्मान करते हैं॥ १॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में—है अ० ८। ५६।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः। पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः॥ २॥

यस्य। इदम्। प्र-दिशि। यत्। वि-रोचते। प्र। च। अनति। वि। च। चष्टे। शचीभिः। पुरा। देवस्य। धर्मणा। सहः-भिः। विष्णुम्। अगन्। वरुणम्। पूर्व-हूतिः॥ २॥

भाषार्थ—(यस्य) जिन (देवस्य) व्यवहारकुशल [राजा और मन्त्री] के (प्रदिशि) अच्छे शासन में (धर्म्मणा) उनके धर्म अर्थात् नीति

१६। (यौ) विष्णुवरुणौ (वीर्यैः) पराक्रमैः (वीरतमा) अतिशयेन वीरौ (शविष्ठा) शवः=वलम्—निघ० २। ६। शवस्वि—इष्ठन्। विन्मतोर्लुक्। पा० ५। ३। ६५। विनिलोपः। अतिशविस्विनौ। वलवन्तौ (यौ) (पत्येते) पत ऐश्वर्ये। ईशाते। ऐश्वर्यं प्राप्नुतः (अप्रतीतौ) इण् गतौ—क्त। अप्रतिगतौ। अतिरस्कृतौ (सहोभिः) वलैः (विष्णुम्) अ० ३। २०। ४। व्यापनशीलं वा सूर्यवत्प्रतापिनं राजानम् (अगन्) अ० २। ६। ३। अगमत्। प्रापत् (वरुणम्) अ० १। ३। ३। श्रेष्ठं वा जलसमानोपकारिणं मन्त्रिणम् (पूर्वहूतिः) पूर्वाणां समस्तानां जनानां हूतिराह्वानम्॥

२—(यस्य) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३६। अत्र द्विवचनस्यैकवचनम्। ययोः (इदम्) राज्यम् (प्रदिशि) अनुशासने (यत्) विश्वम्

और (सहोभिः) पराक्रम से (इदम्) यह [राज्य] है, (यत्) जो कुछ (पुरा) हमारे सन्मुख (शचीभिः) अपने कर्मों से (विरोचते) जगमगाता है, (च) और (प्र अनति) श्वास लेता है (च) और (वि चष्टे) निहारता है, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से प्रजा के सब स्थावर और जंगम पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, वहां सब लोग प्रसन्न रह कर उस राज्य की प्रशंसा करते हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-८ ॥ विष्णुर्देवता ॥ १, २, ८ त्रिष्टुप्; ३ यस्योरुषु… द्विपात् त्रिष्टुप्, उरु…अनुष्टुप्; ४-७ गायत्री ॥

व्यापकेश्वरगुणोपदेशः—व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कंभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि । वि-ममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्-तरम् । सध-स्थम् । वि-चक्रमाणः । त्रेधा । उरु-गायः ॥ १ ॥

भावार्थ—(विष्णोः) विष्णु व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (कम्) सुख से (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं, (यः)

(विरोचते) विविधं दीप्यते (प्र) प्रकर्षेण (च) (अनति) अनिति । श्वसिति (च) (वि) विविधम् (च) (वि) विविधम् (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० १ । २ (पुरा) अस्माकं निकटे (देवस्य) व्यवहारकुशलयोः (धर्मणा) धारणसामर्थ्येन (सहोभिः) पराक्रमैः । अन्यत्पूर्ववत्–म० १ ॥

१—(विष्णोः) अ० ३ । २० । ४ । सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (नु) शीघ्रम् (कम्) सुखेन (वोचम्) अ० २ । ५ । ५ । उच्यासम् (वीर्याणि) पराक्रमान्

जिसने (पार्थिवानि) भूमिस्थ और अन्तरिक्षस्थ (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार रचा है, (यः) जिस (उरुगायः) बड़े उपदेशक प्रभु ने (उत्तरम्) सब अवयवों के अन्त (सधस्थम्) साथ में रहने वाले कारण को (विचक्रमाणः) चलाते हुये (त्रेधा) तीन प्रकार से [उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप से] [उन लोकों को] (अस्कभायत्) थांभा है ॥ १ ॥

भावार्थ--जो परमेश्वर परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति देकर अनेक लोकों को बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से धारण करता है, उसकी भक्ति सब मनुष्य सदा किया करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१ । १५४ । १ । और यजुर्वेद में ५।१८॥

प्र तद् विष्णु॑ स्तवते वी॒र्या॑णि मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः । प॒रा॒वत॒ आ ज॑गम्यात् पर॑स्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वी॒र्या॑णि । मृ॒गः । न । भी॒मः । कु॒च॒रः । गि॒रि॒-स्थाः । प॒रा॒-वतः । आ । ज॒ग॒म्या॒त् । पर॑स्याः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(भीमः) डरावने, (कुचरः) टेढ़े टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) आखेट ढूंढ़ने वाले सिंह आदि के समान, (तत्) वह (विष्णुः) सर्वव्यापी

(यः) विष्णुः (पार्थिवानि) पृथिवी, पृथिवीनाम-निघ० १ । १ । अन्तरिक्षम्-१ । ३ । तत्र विदित इति च । पा० ५ । १ । ४३ । इति पृथिवी-अञ् । भूमिस्थानि अन्तरिक्षस्थानि च (विममे) विविधं निर्मितवान् (रजांसि) लोकान् (यः) विष्णुः (अस्कभायत्) अ० ४ । १ । ४ । अस्कभ्नात् । स्तम्भितवान् (उत्तरम्) उद्गततरम् । सर्वान्तावयवम् (सधस्थम्) यत् सह तिष्ठति तत्कारणम् (विचक्रमाणः) विपूर्वस्य क्रमतेः कानच् । अन्तर्गतण्यर्थः । विशेषेण चालयन् (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण (उरुगायः) अ० २ । १२ । १ । बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति यः सः । बहूपदेशकः ॥

२—(प्र) प्रकर्षेण (तत्) सः (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (स्तवते) छान्दसः शप् । स्तुते । स्तुत्यं करोति (वीर्याणि) पराक्रमान् (मृगः) यो मार्ष्टयन्विच्छति वधाय जीवान् । सिंहादिः (न) इव (भीमः) भयानकः (कुचरः)

विष्णु (वीर्याणि) अपने पराक्रमों को (प्र) अच्छे प्रकार (स्तवते) स्तुति योग्य बनाता है । वह (परावतः) समीप दिशा से और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सिंह का पराक्रम जंगलीय पशुओं में विदित होता है, वैसे ही सर्वव्यापी, पापियों के दण्ड देने वाले परमात्मा का सामर्थ्य निकट और दूर सब लोकों में प्रसिद्ध है ॥२॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग ऋग्वेद में है—म० १ । १५४ । २ । और यजु० अ० ५ । २० । (मृगो न......गिरिष्ठाः) यह पाद निरुक्त १ । २० में व्याख्यात है ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । वि-क्रमणेषु । अधि-क्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा । उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः। कृधि । घृतम् । घृत-योने । पिब । प्र-प्र । यज्ञ-पतिम् । तिर ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (उरुषु) विस्तीर्ण [उत्पत्ति स्थितिप्रलय रूप] (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) विविध क्रमों [नियमों] में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (अधिक्षियन्ति) भले प्रकार रहते हैं । [वही] (विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु तू (उरु) विस्तार से (वि क्रमस्व) विक्रमी

कुत्सितं चरन् (गिरिष्ठाः) पर्वतस्थायी (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परा आभिमुख्ये । अभिमुखगताया दिशायाः (आ जगम्यात्) शपः श्लुः, विधिलिङ् । आगच्छेत् (परस्याः) दूरदिशायाः ॥

३—(यस्य) विष्णोः (उरुषु) विस्तृतेषु (त्रिषु) उत्पत्तिस्थितिप्रलय-रूपेषु (विक्रमणेषु) विविधेषु क्रमेषु नियतविधानेषु (अधिक्षियन्ति) अधिकं निवसन्ति (भुवनानि) जगन्ति (विश्वा) सर्वाणि (उरु) यथा तथा । विस्ता-रेण (विक्रमस्व) विक्रमी पराक्रमी भव (क्षयाय) क्षि निवासगतिहिंसै-

हो, और (नः) हमें (क्षयाय) ज्ञान वा ऐश्वर्य के लिये (उरु) विस्तार के साथ (कृधि) कर। (घृतयोने) हे प्रकाश के घर! (घृतम्) घृत के समान तत्त्वरस (पिब=पायय) [हमें] पान करा और (यज्ञपतिम्) पूजनीय कर्म के रक्षक मनुष्य को (प्र प्र) अच्छे प्रकार (तिर) पार लगा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों का स्वामी है, सब मनुष्य उसकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥

(यस्य उरुषु···) यह पाद ऋग्वेद में है-१ । १५४ । २ । और यजु० ५ । २०॥ (उरु विष्णो...) यह मन्त्र यजुर्वेद में है—५ । ३८, ४१ ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा ।
समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ।
सम्-ऊढम् । अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विष्णुः) विष्णु सर्वव्यापी भगवान् ने (समूढम्) आपस में एकत्र किये हुये वा यथावत् विचारने योग्य (इदम्) इस जगत् को (विचक्रमे) पराक्रमयुक्त [शरीरवाला] किया है, उसने (अस्य) इस जगत् के (पदा) स्थिति और गति के कर्मों को (त्रेधा) तीन प्रकार (पांसुरे) परमा-

---

श्वर्येषु-अच् । विज्ञानस्य ऐश्वर्यस्य चोन्नतये (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (घृतम्) घृतवत्तत्त्वरसम् (घृतयोने) योनिर्गृहम्—निघ० ३ । ४ । हे घृतस्य प्रकाशस्य योने गृह (पिब) अन्तर्गतणिच् । अस्मान् पायय (प्र प्र) अधिकं प्रकर्षेण (यज्ञपतिम्) पूजनीयकर्मणां पातारं पुरुषम् (तिर) तारय । पारय ॥

४—(इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (विष्णुः) व्यापकः परमेश्वरः (विचक्रमे) विक्रान्तं पराक्रमयुक्तं सशरीरं कृतवान् (त्रेधा) त्रिप्रकारम् (निदधे) नियमेन स्थापयामास (पदा) पद स्थैर्ये गतौ च-अच् । स्थितिगतिकर्माणि (समूढम्) सम्+वह प्रापणे, ऊह वितर्के वा-क्त राशीकृतम् । सम्यग् वितर्कणीयमनुमेयं जगत् (अस्य) जगतः (पांसुरे) नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् ।

गुओं वाले अन्तरिक्ष में (नि दधे) स्थिर किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणुओं से रचकर उत्पत्ति, स्थिति प्रलय द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक, अर्थात् नीचे, मध्यम और ऊंचे स्थानों में धारण किया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १७; यजु०-५ । १५, और साम० पू० ३ । ३ । ६ ।, और उ० ८ । २ । ८ । भगवान् यास्क ने निरु० १२ । १८, १९ में भी इस मन्त्र की व्याख्या की है ॥

त्रीणि पुदा वि चंक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पुदा । वि । चुक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।
इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गोपाः) सर्वरक्षक (अदाभ्यः) न दबने योग्य (विष्णुः) विष्णु अन्तर्यामी भगवान् ने (त्रीणि) तीनों (पदा) जानने योग्य वा पाने योग्य पदार्थों [कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु लोक] को (वि चक्रमे) समर्थ [शरीरधारी] किया है । (इतः) इसी से वह (धर्माणि) धर्मों वा धारण करनेवाले [पृथिवी आदि] को (धारयन्) धारण करता हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर नानाविध जगत् को रचकर धारण कर रहा है, उसी की उपासना सब मनुष्य नित्य किया करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १८; यजु०-३४ । ४३; और साम० उ० ८ । २ । ५ ।

वा० पा० ५ । २ । १०७ । इति पांसु-रो मत्वर्थे । पांसुभी रजोभिः परमाणुभिर्युक्तेऽन्तरिक्षे ॥

५—(त्रीणि) (पदा) पदानि ज्ञातव्यानि प्राप्तव्यानि वा कारणस्थूलसूक्ष्मरूपाणि, अथवा भूम्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि पदार्थजातानि (वि चक्रमे) विक्रान्तवान् । समर्थानि सावयवानि कृतवान् (विष्णुः) अन्तर्यामीश्वरः (गोपाः) अ० ५ । ६ । ८ । गोपयिता । रक्षकः (अदाभ्यः) अ० ३ । २१ । ४ । अहिंस्यः । अजेयः (इतः) अस्मात्कारणात् (धर्म्माणि) धर्मान् धारकाणि पृथिव्यादीनि वा (धारयन्) पोषयन् । धर्षयन् वर्तत इति शेषः ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥
विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विष्णोः) सर्व व्यापक विष्णु के (कर्माणि) कर्मों [जगत् का बनाना, पालन, प्रलय आदि] को (पश्यत) देखो, (यतः) जिससे उसने (व्रतानि) व्रतों [सब के कर्त्तव्य कर्मों] को (पस्पशे) बांधा है । (युज्यः) वह योग्य [अथवा सब से संयोग रखनेवाले दिशा, काल, आकाश आदि में रहने वाला] परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीव का (सखा) सखा है ॥ ६ ॥

भावार्थ-जिस परमेश्वर ने संसार रचकर सब को नियम में बांधा है, वही सब में रमकर सब का हितकारी है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १८; यजु-६ । ४, १३ । ३३; और साम० उ०-८ । २ । ५ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥
तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।
दिवि-इव । चक्षुः । आ-ततम् ॥ ७॥

भाषार्थ—(सूरयः) बुद्धिमान् पण्डित लोग (विष्णोः) सर्वव्यापक विष्णु के (तत्) उस (परमम्) अति उत्तम (पदम्) पाने योग्य स्वरूप को

६—(विष्णोः) व्यापकस्य (कर्माणि) जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) येन (व्रतानि) कर्त्तव्यकर्माणि (पस्पशे) स्पश बन्धनस्पर्शनयोः-लिट् । बद्धवान् । नियमितवान् (इन्द्रस्य) जीवस्य (युज्यः) युज-क्यप्, योग्यः । यद्वा । युज-क्विप्, भवे यत् । युञ्जन्ति व्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् ते युजो दिक्कालाकाशादयस्तत्र भवः (सखा) मित्रम् ॥

७—(तत्) प्रसिद्धम् (विष्णोः) व्यापकस्य (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (पदम्) प्राप्तव्यं स्वरूपं मोक्षम् (सदा) सर्वदा (पश्यन्ति) संप्रेक्षन्ते ।

(सदा) सदा (पश्यन्ति) देखते हैं (इव) । जैसे (दिवि) प्रकाश में (आततम्) फैला हुआ (चक्षुः) नेत्र [दृश्य पदार्थों को देखता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी सूर्य आदि के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से अपने आत्मा में जगदीश्वर के आनन्दस्वरूप मोक्ष पद को साक्षात् करके आनन्द पाते हैं ॥७॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । २० ; यजु०—६ । ५ ; साम० उ०—८ । २ । ५ ॥

दिवो विष्णा उत वा पृथिव्या महो विष्णा उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८॥

दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । महः । विष्णो इति । उरोः । अन्तरिक्षात् । हस्तौ । पृणस्व । बहु-भिः । वसव्यैः । आ-प्रयच्छ । दक्षिणात् । आ । उत । सव्यात् ॥८॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु ! (दिवः) सूर्य लोक से (उत) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से, (वा) अथवा, (विष्णो) हे विष्णु ! (महः) बड़े (उरोः) चौड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धन समूहों से (हस्तौ) दोनों हाथों को (पृणस्व) भर; (उत) और (दक्षिणात्) दाहिने (उत) और (सव्यात्) बायें हाथ से (आप्रयच्छ) अच्छे प्रकार से दान कर ॥ ८ ॥

साक्षात्कुर्वन्ति (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । मेधाविनः पण्डिताः (दिवि) सूर्यादिप्रकाशे (इव) यथा (चक्षुः) नेत्रम् । पश्यति दृश्यानि इति शेषः (आततम्) प्रसृतम् ॥

८—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (विष्णो) हे सर्वव्यापक (उत) अपि (वा) अथवा (पृथिव्याः) भूलोकात् (महः) मह–क्विप् । विशालात् (उरोः) उरुणः । विस्तीर्णात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (हस्तौ) करौ (पृणस्व) पूरय (बहुभिः) अधिकैः (वसव्यैः) वसोः समूहे च । पा० ४ । ४ । १४० । वसु–यत् । वसूनां धनानां समूहैः (आप्रयच्छ) समन्तात् देहि (दक्षिणात्) दक्षिणहस्तात् (आ) चार्थे (उत) अपि (सव्यात्) वामहस्तात् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक लोकान्तर और सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन आदि की प्राप्ति से आनन्द भोगें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है—५ । १६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१ ॥ इडा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः । पदे । पुनते । देव-यन्तः । घृत-पदी । शक्वरी । सोम-पृष्ठा । उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्व-देवी ॥१॥

भाषार्थ—(इडा एव) वही प्रशंसनीय विद्या (अस्मान्) हमें (व्रतेन) उत्तम कर्म से (अनु) अनुग्रह करके (वस्ताम्) ढके [शोभायमान करे], (यस्याः) जिसके (पदे) अधिकार में (देवयन्तः) उत्तमगुण चाहने वाले पुरुष (पुनते) शुद्ध होते हैं। [और जो] (घृतपदी) प्रकाश का अधिकार, रखने वाली, (शक्वरी) समर्थ, (सोमपृष्ठा) ऐश्वर्य सींचने वाली, (वैश्व-

१—(इडा) अ० ३ । १० । ६ । स्तुत्या विद्या । वाक्—निघ० ३ । ११ । (एव) अवधारणे (अस्मान्) सत्यकर्मणः (अनु) अनुग्रहेण (वस्ताम्) वस आच्छादने । आच्छादयतु । अलङ्करोतु (व्रतेन) शुभकर्मणा (यस्याः) इडायाः (पदे) अधिकारे (पुनते) शुद्ध्यन्ति (देवयन्तः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । देव—क्यच्, शतृ । देवान् शुभगुणान् आत्मन इच्छन्तः (घृत-पदी) घृतं प्रकाशः पदे अधिकारे यस्याः सा (शक्वरी) अ० ३ । १३ । ७ । शक्ता । समर्था (सोमपृष्ठा) अ० ३ । २१ । ६ । ऐश्वर्यसेचिका (उप अस्थित)

देवी) सब उत्तम पदार्थों से सम्बन्ध वाली होकर (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा शास्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, वाणिज्यविद्या आदि प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

सूक्तम् २८ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्ञकर्मोपदेशः—यज्ञ करने का उपदेश ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति । हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्रु-घनः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः । नः । स्वस्ति । हविः-कृतः । यज्ञियाः । यज्ञ-कामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वेदः) वेद [ईश्वरीय ज्ञान] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (द्रुघणः) मुद्गर [मोगरी] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (वेदिः) वेदी [यज्ञभूमि, हवनकुण्ड आदि], (परशुः) फरसा [वा गड़ासी] और (परशुः) कुल्हाड़ी (नः) हमें (स्वस्ति) मङ्गलकारी हो । (हविष्कृतः) देने लेने योग्य

उपस्थिता अभवत् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (वैश्वदेवी) दिव्यपदार्थानां सम्बन्धिनी ॥

१—(वेदः) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे-घञ् । संहितात्मकः परमेश्वरोक्तो ग्रन्थभेदः (स्वस्तिः) अ० १ । ३० । २ । मङ्गलकरः (द्रुघणः) करणेऽयोविद्रुषु । पा० ३ । ३ । ८२ । इति द्रु+हन्-अप्, घनादेशश्च । पूर्वपदात्संज्ञायामगः । पा० ८ । ४ । ३ । इति णत्वम् । द्रुमयः काष्ठमयो घनः । मुद्गरः (स्वस्तिः) (परशुः) अ० ३ । १९ । ४ । तृणादिच्छेदनी (वेदिः) इगुपधात् इन् ... विदि० । उ० ४ ।

व्यवहार करने वाले, (यज्ञियाः) पूजनीय, (यज्ञकामाः) मिलाप चाहने वाले (ते) वे (देवासः) विद्वान् लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय कर्म को] (जुषन्ताम्) स्वीकार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदज्ञान द्वारा सब उचित सामग्री लेकर विद्वानों के सत्संग से अग्नि में हवन तथा शिल्प सम्बन्धी संयोग वियोग आदि क्रिया करके आनन्दित रहें ॥

सूक्तम् २९ ॥

१-२ ॥ अग्नाविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्युत्सूर्यगुणोपदेशः—बिजुली और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

अग्नाविष्णु महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम । दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णु इति । महि । तत् । वाम् । महि-त्वम् । पाथः । घृतस्य । गुह्यस्य । नाम । दमे-दमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य ! (वाम्) तुम दोनों का (तत्) वह (महि) बड़ा (महित्वम्) महत्त्व है, (गुह्यस्य) रक्षणीय,

---

११६ । इति विद ज्ञाने—इन् । यज्ञभूमिः । हवनकुण्डादिः । पण्डितः (परशुः) वृक्षच्छेदनसाधनं कुठारः (नः) अस्मभ्यम् (स्वस्ति) सुखकरः (हविष्कृतः) दातव्यग्राह्यव्यवहारकर्तारः (यज्ञियाः) आदरार्हाः (यज्ञकामाः) संगतिं कामयमानाः (ते) प्रसिद्धाः (देवासः) व्यवहारिणो विद्वांसः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (इमम्) (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१—(अग्नाविष्णू) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । पूर्वपदस्यानङ् । हे विद्युत्सूर्यौ (महि) महत् (तत्) प्रसिद्धम् (वाम्) युवयोः (महित्वम्) महत्त्वं प्रभुत्वम् (पाथः) पा रक्षणे—लट् । रक्षथः (घृतस्य) साररसस्य

वा गुप्त (घृतस्य) सार रस के (नाम) झुकाव की (पाथः) तुम दोनों रक्षा करते हो। (दमेदमे) घर घर में [प्रत्येक शरीर वा लोक में] (सप्त) सात (रत्ना) रत्नों [धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य] को (दधानौ) धारण करने वाले हो। (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जय शक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) भले प्रकार (चरण्यात्) बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जाठर अग्नि वा बिजुली अन्न को पकाकर उसके सार रस से सात धातु, रस, रुधिर आदि बनाकर शरीर को पुष्ट करता है। और सूर्य पार्थिव जल को खींच कर मेघ बनाकर वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ। दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णू इति। महि। धाम। प्रियम्। वाम्। वीथः। घृतस्य। गुह्या। जुषाणौ। दमे-दमे। सु-स्तुत्या। ववृधानौ। प्रति। वाम्। जिह्वा। घृतम्। उत्। चरण्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य (वाम्) तुम दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) प्रीति करने वाला (धाम) धर्म वा नियम है, तुम

(गुह्यस्य) अ० ३। ५। ३। गोपनीयस्य। गुप्तस्य (नाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति नमतेर्मनिन्, मलोपो दीर्घश्च। नमनं प्रापणम् (दमेदमे) गृहे गृहे (सप्त रत्ना) रमणीयान् सप्तधातून्। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। इति शब्दकल्पद्रुमः (दधानौ) धारयन्तौ (प्रति) प्रत्यक्षम् (वाम्) युवयोः (जिह्वा) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १। १५४। इति जि जये—वन्, हुक् च। जयशक्तिः (घृतम्) साररसम् (आचरण्यात्) चरण गतौ कण्ड्वादौ—लेट्। आचरेत्। साधयेत् ॥

२—(अग्नाविष्णू) म० १। विद्युत्सूर्यौ (धाम) धर्मः। नियमः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (वीथः) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु।

दोनों (घृतस्य) सार रस के (गुह्या) सूक्ष्मतत्त्वों को (जुषाणौ) सेवन करते हुये (वीथः) प्राप्त होते हो। (दमेदमे) घर घर में (सुष्टुत्या) बड़ी स्तुति के साथ (ववृधानौ) वृद्धि करते हुये [रहते हो,] (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जयशक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (उत्) उत्तमता के साथ (चरण्यात्) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बिजुली वा शारीरिक अग्नि और सूर्यके नियम बड़े अद्भुत हैं, बिजुली अन्न के रस से शरीर को पुष्टि करती और सूर्य मेघ की जलवृष्टि से संसार को बढ़ाता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शुभकर्मकरणोपदेशः—शुभ कर्म करने का उपदेश ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अंकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

सु-आक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सु-आक्तम् । मित्रः । अकः । अयम् । सु-आक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सु-आक्तम् । सविता । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी ने (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत [किया है]; (अयम्) इस (मित्रः) मित्र [माता पिता आदि] ने (स्वाक्तम्) स्वागत (अकः) किया है। (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः)

गच्छथः। प्राप्नुथः (घृतस्य) साररसस्य (गुह्या) गुप्तानि। सूक्ष्मतत्त्वानि (सुष्टुत्या) शोभनया स्तुत्या (ववृधानौ) वर्धमानौ (उत्) उत्तमतया। अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—(स्वाक्तम्) सु + आङ + अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त। स्वागतम्। शुभागमनम्, अकार्ष्टाम्, कृतवत्यौ—इति शेषः (मे) मम (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिव्यौ (मित्रः) प्रियः मातापित्रादिः (अकः) अ० १।

रक्षक [आचार्य] (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत, और (सविता) प्रजा प्रेरक शूर पुरुष (स्वाक्तम्) स्वागत (करत्) करे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ऐसे शुभ कर्म करे जिससे संसार के सब पदार्थ और विद्वान् लोग उसके उपकारी होवें ॥१॥

सूक्तम् ३१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व । यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । ऊति-भिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्-श्रेष्ठाभिः । मघ-वन् । शूर । जिन्व । यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पदीष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः । तम् । ऊं इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् ! (नः) हमें (अद्य) आज (बहुलाभिः) अनेक (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भव श्रेष्ठ (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाओं से (जिन्व) प्रसन्न कर। (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, (सः) वह (अधरः)

---

८ । १ । करोतेर्लुङि, इकारलोपे तलोपः । अकार्षीत् (अयम्) समीपवर्ती (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) रक्षकः आचार्यः । (सविता) प्रजाप्रेरकः शूरः (करत्) लेटि रूपम् । कुर्यात् । अन्यद् गतम् ॥

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाभिः (बहुलाभिः) अ० ३ । १४ । ६ । बहुप्रकाराभिः (नः) अस्मान्) (अद्य) अस्मिन् दिने (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भवं प्रशस्यतमाभिः (मघवन्) महाधनिन् (शूर) (जिन्व) जिवि प्रीणने । प्रसादय (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) वैरयति

नीचा हो कर (पदीष्ट) चला जावे, (उ) और (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम वैर करते हैं, (तम्) उसको (उ) भी (प्राणः) उसका प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों सहित यथाशक्ति सब प्रकार के उपायों से शिष्टों का पालन और दुष्टों का निवारण करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३। ५३। २१ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाकर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के कर्म का उपदेश ॥

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म् ।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप॑ । प्रि॒यम् । पनि॑प्नतम् । युवा॑नम् । आ॒हु॒ति॒-वृध॑म् । अग॑न्म । बिभ्र॑तः । नमः॑ । दी॒र्घम् । आयुः॑ । कृ॒णो॒तु॒ । मे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नमः) वज्र को (विभ्रतः) धारण करते हुये [पुरुषार्थ करते हुये] हम लोग (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (पनिप्नतम्) अत्यन्त व्यवहारकुशल, (युवानम्) पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले वा बलवान्, (आहुतिवृधम्) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया के बढ़ाने वाले राजा को (उप

(सः) शत्रुः । विसर्गसकारौ सांहितिकौ (पदीष्ट) पद गतौ आशीर्लिङि । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकत्वात्सलोपः, सुट्तिथोः । पा०३ । ४ । १०७ । इति सुडागमः पत्सीष्ट । गम्यात् (यम्) (उ) चार्थे (द्विष्मः) वैरयामः (तम्) (उ) अपि (प्राणः) जीवनहेतुः (जहातु) ओ हाक् त्यागे । त्यजतु ॥

१—(उप) पूजायाम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् (पनिप्नतम्) पन व्यवहारे स्तुतौ च यङ्लुकि शतृ । दाधर्तिदर्धर्ति० । पा०७ । ४ । ६५ । इति सूत्र इति करणस्य प्रदर्शनादत्राभ्यासस्य निगागम उपधालोपश्च । अत्यन्तं व्यवहारकुशलम् (युवानम्) पदार्थानां संयोजकवियोजकं बलवन्तं वा (आहुतिवृधम्) यथावद्

अगन्म) प्राप्त हुये हैं वह (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति कुशल, प्रतापी राजा अनेक विद्याओं के दान से प्रजा की रक्षा करे, उसी प्रकार प्रजा भी उसके उपकारों को सन्मान पूर्वक ग्रहण करे ॥१॥

सूक्तम् ३३ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिवर्धनोपदेशः—सब सम्पतियों के बढ़ानेका उपदेश ॥

सं मा सिञ्चन्तु मुरुतः सं पूषा सं बृहुस्पतिः । सं मायमुग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे १

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मुरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहुस्पतिः । सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्र-जया । च । धनेन । च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) वायु के झोके (मा) मुझे (सम्) भले प्रकार (सिञ्चन्तु) सींचे, (पूषा) पृथिवी (सम्) भले प्रकार और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक सूर्य [वा मेघ] (सम्) भले प्रकार [सींचे] । (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [शारीरिक अग्नि वा बल] (मा) मुझको (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि (च) और (धनेन) धन से (सम्) भले प्रकार (सिञ्चतु) सींचे (च) और (मा) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

दातव्यग्राह्यक्रियावर्धकम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (बिभ्रतः) धारयन्तः (नमः) वज्रम्—निघ० २ । २० (दीर्घम्) चिरम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (मे) मम ॥

१—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (सिञ्चन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु । वर्धयन्तु (मरुतः) वायुगणाः (पूषा) पृथिवी—निघ० १ । १ (बृहस्पतिः) बृहतां पालकः सूर्यो मेघो वा (मा) (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (सिञ्चतु) (प्रजया)

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर शारीरिक आत्मिक बल, सन्तान भृत्य आदि बढ़ा कर यश प्राप्त करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजराजपुरुषकर्तव्योपदेशः—राजा और राजपुरुष के कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्ने॑ जा॒तान् प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑ताञ्जातवेदो नुदस्व । अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवो॒ऽना॑गस॒स्ते व॒यमदि॑तये स्याम ॥ १ ॥

अग्ने॑ । जा॒तान् । प्र । नु॒द॒ । मे॒ । स॒-पत्ना॑न् । प्रति॑ । अजा॑तान् । जा॒त॒-वे॒दः॒ । नु॒द॒स्व॒ । अ॒धः॒-प॒दम् । कृ॒णु॒ष्व॒ । ये । पृ॒त॒न्यवः॑ । अना॑गसः । ते । व॒यम् । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बलवान् राजन् वा सेनापति ! (मे) मेरे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) वैरियों को (प्रणुद) निकाल दे, (जातवेदः) हे बड़े बुद्धिवाले राजन् ! (अजातान्) अप्रसिद्ध [शत्रुओं] को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे। (ये) जो (पृतन्यवः) संग्राम चाहने वाले [विरोधी] हैं, (उन्हें) (अधस्पदम्) अपने पांव तले (कृणुष्व) करले (ते) वे (वयम्) हम लोग (अदितये) अदीन भूमि के लिये (अनागसः) निर्विघ्न हो कर (स्याम) रहें ॥ १ ॥

सन्तानभृत्यादिना (धनेन) वित्तेन । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(अग्ने) बलवन् राजन् सेनापते वा (जातान्) प्रादुर्भूतान् (प्र णुद) अपसारय (सपत्नान्) वैरिणः (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (नुदस्व) प्रेरय (अधस्पदम्) अ० २ । ७ । २ । पादस्याधस्तात् (कृणुष्व) कुरु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) पृतना—क्यच् , उ प्रत्ययः । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इत्याकारलोपः । संग्रामेच्छवः (अनागसः) निर्विघ्नाः (ते) तादृशाः (वयम्) धार्मिकाः (अदितये) अदीनायै भूम्यै—निघ० १ । १ । (६

भावार्थ—राजा आदि सब लोग गुप्त दूतों द्वारा प्रकट और गुप्त दुष्टों को वश में करें, जिस से धर्मात्मा लोग निर्विघ्नता से संसार का उपकार करते रहें ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१५ । १ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ जातवेदा देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वे एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

प्र । अन्यान् । स-पत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजा-तान् । जात-वेदः । नुदस्व । इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनवाले राजन् ! (सहसा) अपने बल से (अन्यान्) दूसरे लोगों [विरोधियों] को (प्र सहस्व) हरा दे और (अजातान्) अप्रकट (सपत्नान्) वैरियों को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (पिपृहि) पूर्ण कर, (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (एनम् अनु) इस आप के साथ साथ (मदन्तु) प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से बाहिरी और भीतरी वैरियों का

१—(प्र) प्रकर्षेण (अन्यान्) विरोधिनः (सपत्नान्) शत्रून् (सहसा) स्वबलेन (सहस्व) अभिभव । पराजय (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रभूतधन राजन् (नुदस्व) अपसारय (इदम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (पिपृहि) पूरय (सौभगाय) सौभाग्याय (विश्वे) (एनम्) राजानम् (अनु) अनुसृत्य (मदन्तु) हर्षन्तु (देवाः) व्यवहारकुशलाः ॥

नाश करके प्रजापालन करे। और प्रजागण उस राजा के साथ साथ ऐश्वर्य बढ़ा कर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धमनीः । उत । तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । विलम् । अपि । अधाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरी (इमाः) यह (याः) जो (शतम्) सौ [बहुत] (हिराः) सूक्ष्म नाड़ियां (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (धमनीः) स्थूल नाड़ियां हैं। (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (विलम्) छिद्र को (अहम्) मैं [प्रजागण] ने (अश्मना) व्यापक [अथवा पाषाण समान दृढ़] उपाय से (अपि) निश्चय करके (अधाम्) पुष्ट किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा की शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर उसे सदा प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः । अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

२—(इमाः) शरीरस्थाः (याः) (ते) त्वदीयाः (शतम्) बहुसंख्याकाः (हिराः) अ० १ । १७ । १ । सूक्ष्मा नाड्यः (सहस्रम्) अनेकाः (धमनीः) अ० १ । १७ । २ । स्थूला नाड्यः (उत) अपि (तासाम्) (ते) त्वदीयानाम् (सर्वासाम्) नाडीनाम् (अहम्) प्रजागणः (अश्मना) अ० १ । २ । २ । व्यापकेनोपायेन । यद्वा पाषाणवद्दृढोपायेन (विलम्) बिल भेदने—क । बिलं भरं भवति विभर्त्तेः—निरु० २ । १७ । छिद्रम् (अपि) निश्चयेन (अधाम्) धाञो-लुङ् । पोषितवानस्मि ॥

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्र-जा । अभि । भूत् । मा । उत । सूनुः । अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपि-धानम् । कृणोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरे (योनेः) घर के (परम्) शत्रु को (अवरम्) नीच (कृणोमि) बनाता हूं, (त्वा) तुझको (मा) न तो (प्रजा) प्रजा भृत्य आदि (उत) और (मा) न (सूनुः) पुत्र (अभि भूत्) तिरस्कार करे । (त्वा) तुझको (अस्वम्) बुद्धिमान् और (अप्रजसम) अ-ताड़नीय पुरुष (कृणोमि) मैं करता हूं और (ते) तेरे (अपिधानम्) ओढ़ने [कवच] को (अश्मानम्) पत्थर समान दृढ़ (कृणोमि) मैं बनाता हूं ॥३॥

भावार्थ—बुद्धिमान्, बलवान्, दृढ़स्वभाव राजा ऐसी सुनीति का प्रचार करे कि उससे उसकी प्रजा और सन्तान में फूट न पड़े, किन्तु सब प्रीति पूर्वक रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१ ॥ मित्रे देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परमित्रत्वोपदेशः—परस्पर मित्रता का उपदेश ॥

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ १ ॥

अक्ष्यौ । नौ । मधुसंकाशे इति मधु-संकाशे । अनीकम् । नौ । सम्-अञ्जनम् । अन्तः । कृणुष्व । माम् । हृदि । मनः ।

३—(परम्) शत्रुम् (योनेः) गृहस्य (अवरम्) अधमम् (ते) तव (कृणोमि) करोमि (मा) निषेधे (त्वा) राजानम् (प्रजा) भृत्यादिः (अभि-भूत्) अभिभवेत् । तिरस्कुर्यात् (मा) निषेधे (उत) अपि (सूनुः) पुत्रः (अस्वम्) असु-अर्श आद्यच् । असुः प्रज्ञा—निघ ३ । ९ । प्रज्ञावन्तम् (त्वा) राजानम (अप्रजसम्) जसु हिंसायां तांडने च—पचाद्यच् । अताडनीयम् बलवन्तम् (कृणोमि) (अश्मानम्) पाषाणवद् दृढम् (ते) तव (अपिधा-नम्) संवरणम् । कवचम् ॥

इत् । नौ । सह । असति ॥ १ ॥

भाषार्थ--(नौ) हम दोनों की (अक्ष्यौ) दोनों आखें (मधुसंकाशे) ज्ञान की प्रकाश करने वाली और (नौ) हम दोनों का (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) यथावत् विकाश वाला [होवे] । (माम्) मुझको (हृदि अन्तः) अपने हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर ले, (नौ) हम दोनों का (मनः) मन (इत्) भी (सह) एकमेल (असति) होवे ॥१॥

भावार्थ--मनुष्य आपस में प्रीतियुक्त रह कर सदा धर्मयुक्त व्यवहार करके प्रसन्न रहें ॥१॥

सूक्तम् ३७ ॥

१ ॥ दम्पती दवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः--विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनु-जातेन । दधामि । मम । वाससा । यथा । असः । मम । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ॥१॥

भाषार्थ--[हे स्वामिन् !] (मनुजातेन) मननशील मनुष्यों में प्रसिद्ध (मम वाससा) अपने वस्त्र से (त्वा) तुझे (अभि दधामि) मैं बांधती हूं । (यथा) जिससे तू (केवलः) केवल (मम) मेरा (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥१॥

१--(अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (नौ) आवयोः (मधुसङ्काशे) काशृ दीप्तौ-अच् । ज्ञानप्रकाशिके (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ । अन जीवने-ईकन् । मुखप्रदेशः (समञ्जनम्) सम्यग्व्यक्तिकरं विकाशकम् (अन्तः) मध्ये (कृणुष्व) कुरु (माम्) मित्रम् (हृदि) हृदये (मनः) चित्तम् (इत्) एव (नौ) आवयोः (सह) परस्परमिलितम् (असति) भूयात् ॥

१--(त्वा) पतिम् (मनुजातेन) मननशीलेषु मनुष्येषु प्रसिद्धेन (अभि दधामि) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । बध्नामि (वाससा) वस्त्रेण यथा

भावार्थ—विवाह में विद्वानों के बीच वस्त्र का गठिबन्धन करके वधू और वर दृढ़प्रतिज्ञा करें कि पत्नी पतिव्रता और पति पत्नीव्रत होकर गृहस्थ आश्रम को प्रीति पूर्वक निबाहें ॥१॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेषजम् । माम्-पश्यम् । अभि-रोरुदम् ।
परा-यतः । नि-वर्तनम् । आ-यतः । प्रति-नन्दनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्वामिन् ! मैं वधू] (मांपश्यम्) लक्ष्मी के देखने वाले [खोजने वाले], (अभिरोरुदम्) परस्पर संगति देने वाले, (परायतः) दूर जाने वाले के (निवर्तनम्) लौटाने वाले, (आयतः) आने वाले के (प्रतिनन्दनम्) स्वागत करने वाले (इदम्) इस [प्रतिज्ञा रूप] (भेषजम्) भयनिवारक औषध को (खनामि) खोदती हूं [प्रकट करती हूं] ॥ १ ॥

येन प्रकारेण (असः) असेलेटि, अडागमः । भवेः (मम) (केवलः) असाधारणः (न) निषेधे (अन्यासाम्) अन्यस्त्रीणाम् (कीर्तयाः) कृत संशब्दने, णिचि । उपधायाश्च । पा० ७ । १ । १०१ । इत्वम् उपधायां च । पा० ८ । २ । ७८ । इति दीर्घः, लेटि आडागमः । कीर्तयेः । कीर्तनं ध्याः कुर्याः (चन) चार्थे ॥

१—(इदम्) प्रतिज्ञारूपम् (खनामि) खननेन अन्वेषणेन प्राप्नोमि (भेषजम्) भयनिवारकमौषधम् (मांपश्यम्) इन्दिरा लोकमाता मा—अमर० १ । २६ । मा=लक्ष्मीः । पाघ्राध्माधेड्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति दृशेः शप्रत्ययः । पाघ्राध्मा० । पा० ७ । ३ । ७८ । पश्यादेशः । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति द्वितीयाया अलुक् । मां लक्ष्मीं पश्यत् विलोकयत् (अभिरोरुदम्) अभि+रोरु+दम् । मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । इति रुङ् गतिरेषणयोः—रु+दा—क । अभिरोरोः, अभिगतेः परस्परसंगतेः प्रदम् (परायतः) परा

भावार्थ—जिस प्रकार वैद्य उत्तम ओषधि को खोद कर उपकार लेता है। इसी प्रकार वधू वर प्रतिज्ञा करके परस्पर सुख बढ़ावें ॥१॥

येना॑ निच॒क्र आ॑सु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।

तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि सुप्रि॒या ॥ २ ॥

येन॑ । नि॒-च॒क्रे । आ॒सु॒री । इन्द्र॑म् । दे॒वेभ्यः॑ परि॑ । तेन॑ । नि । कु॒र्वे॒ । त्वाम् । अ॒हम् । यथा॑ । ते॒ । असा॑नि । सु॒-प्रि॒या ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [उपाय] से (आसुरी) बुद्धिमानों वा बलवानों के हित करने वाली बुद्धि ने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य को (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (परि) सब ओर से (निचक्रे) नियत किया था। (तेन) उसी [उपाय] से (अहम्) मैं (त्वम्) तुझको (नि कुर्वे) नियत करती हूं, (यथा) जिस से मैं (ते) तेरी (सुप्रिया) बड़ी प्रीति करने वाली (असानि) रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकाल में बुद्धि और बल द्वारा उत्तम गुण प्राप्त करते रहे हैं, उसी प्रकार दम्पती प्रयत्न करके परस्पर प्रीति के साथ उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्र॒ती॒ची सोम॑मसि प्र॒ती॒च्यु॒त सूर्य॑म् ।

प्र॒ती॒ची विश्वा॑न् दे॒वान् तां त्वा॒च्छाव॑दामसि ॥ ३ ॥

+आङ्+इण गतौ—शतृ। दूरगच्छतः पुरुषस्य (निवर्त्तनम्) पुनरागमनकारणम् (आयतः) आगच्छतः पत्युः (प्रतिनन्दनम्) स्वागतकरम् ॥

२—(येन) उपायेन (निचक्रे) नियतं कृतवती (आसुरी) अ० १। २४। १। असुः प्रज्ञा प्राणो वा—रोमत्वर्थीयः—असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १०। ३४। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। असुर-अण्। प्रज्ञावतां बलवतां वा हिता माया प्रज्ञा-निघ० ३। ६। (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं नरम् (देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (परि) सर्वतः (तेन) उपायेन (नि) नियतम् (कुर्वे) करोमि (त्वाम्) वरम् (अहम्) वधूः (यथा) (ते) तव (असानि) भवानि (सुप्रिया) सुप्रीतिकरा ॥

प्रतीची । सोमम् । असि । प्रतीची । उत । सूर्यम् । प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छ-आवदामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली तू (सोमम्) चन्द्रमा को, (उत) और (प्रतीची) प्रतिज्ञापूर्वक मार्गवाली तू (सूर्यम्) सूर्य को, और (प्रतीची) प्रतिष्ठा पूर्वक उपायवाली तू (विश्वान्) सब (देवान्) उत्तम गुणों को (असि–असमि) प्राप्त होती है, (ताम् त्वा) उस तुझको (अच्छावदामसि) हम स्वागत करके बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष चन्द्रसमान शान्त स्वभाव, सूर्यसमान तेजस्विनी और सर्वगुणवती वधू का यथावत् आदर करें ॥ ३ ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसुस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद । मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (न इत्) अभी (वदामि) बोल रही हूं, (त्वम् त्वम्) तू तू (अह) भी (सभायाम्) सभा में (वद) बोल । (त्वम्) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्)

३—(प्रतीची) प्रति+अञ्चु गतौ—क्विन् । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । अकारलोपः । चौ । पा० ६ । ४ । २२२ । पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रति निश्चयेन गतिमती ज्ञानवती (सोमम्) चन्द्रम्, चन्द्रतुल्यशान्तस्वभावम् (असि) असमि स्थाने असि रूपम् । अस ग्रहणे गतौ च–लट् । गच्छसि । प्राप्नोषि (प्रतीची) प्रतिज्ञया गतिमती मार्गवती (उत) अपि च (सूर्यम्) सूर्यतुल्यप्रतापम् (प्रतीची) प्रति प्रतिष्ठया गतिमती प्रयत्नवती (विश्वान्) सर्वान् (देवान्) दिव्यगुणान् (ताम्) तथाभूताम् (त्वा) त्वां वधूम् (अच्छावदामसि) अ० ६ । ५६ । ३ । अच्छ सत्कारेण आह्वयामः ॥

४—(अहम्) वधूः (वदामि) प्रतिजानामि (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ । (इत्) एव (त्वम् त्वम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (सभायाम्) विद्वत्समाजे (अह)

दूसरी स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ--वधू और वर पंचों के सन्मुख दृढ़प्रतिज्ञा करके सदाचारी रह कर धर्म पर चलते रहें ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भेद से आचुका है--अ० ७ । ३७ । १ ॥

यदि॒ वासि॑ तिरोज॒नं यदि॑ वा न॒द्य॑स्ति॒रः ।
इ॒यं ह॒ मह्यं॒ त्वामोष॑धिर्ब॒द्ध्वेव॒ न्यान॑यत् ॥ ५ ॥

यदि॑ । वा॒ । असि॑ । ति॒रः-ज॒नम् । यदि॑ । वा॒ । न॒द्यः॑ । ति॒रः । इ॒यम् । ह॒ । मह्य॑म् । त्वाम् । ओष॑धिः । ब॒द्ध्वा-इ॑व । नि॒-आन॑यत् ॥५॥

भाषार्थ--[हे पति !] तू (यदि वा) चाहे (तिरोजनम्) मनुष्यों से अदृष्ट स्थान में (असि) है, (यदि वा) चाहे (नद्यः) नदियां (तिरः) बीच में हैं । (इयम्) यह [प्रतिज्ञारूप] (ओषधिः) ओषधि (मह्यम्) मेरे लिये (ह) ही (त्वाम्) तुझको (बध्वा इव) बांध कर जैसे (न्यानयत्) लेआवे ॥५॥

भावार्थ--मनुष्य वाणिज्य, युद्ध आदि के लिये दूर परदेशों में जाकर अपने देश को लौटा करें ॥ ५ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१ ॥ सुपर्णः सूर्यो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

एव (वद) प्रतिजानीहि (मम) (इत्) एव । अन्यत्पूर्ववत् अ० ७ । ३७ ॥१॥

५--(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (तिरोजनम्) क्रियाविशेषणमेतत् । तिरोऽन्तर्हितो ऽदृष्टो जनो यस्मिन्स्थाने तस्मिन् (यदि वा) (नद्यः) सरितः (तिरः) तिरोभूत्वा व्यवधानेन वर्तन्ते (इयम्) प्रतिज्ञारूपा (ह) एव (मह्यम्) मदर्थम् (त्वाम्) पतिम् (ओषधिः) (बद्ध्वा) निगृह्य (इव) (न्यानयत्) नयतेर्लेटि, अडागमः । नितरामानयेत् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ वृष॒भमोष॑धीनाम् । अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्ट्या त॒र्पय॑न्त॒मा नो॑ गो॒ष्ठे र॑यि॒ष्ठां स्था॑पयाति ॥ १ ॥

दि॒व्यम् । सु॒-प॒र्णम् । प॒य॒सम् । बृ॒हन्त॑म् । अ॒पाम् । गर्भ॑म् । वृ॒ष॒भम् । ओष॑धीनाम् । अ॒भी॒प॒तः । वृ॒ष्ट्या । त॒र्पय॑न्तम् । आ । नः॒ । गो-स्थे॑ । र॒यि-स्थाम् । स्था॒प॒या॒ति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुणवाले, (पयसम्) गतिवाले, (बृहन्तम्) विशाल, (अपाम्) अन्तरिक्ष के (गर्भम्) गर्भसमान बीच में रहने वाले, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों के (वृषभम्) बरसाने वाले, (अभीपतः) सब ओर जल वाले मेघ से (वृष्ट्या) वृष्टिद्वारा (तर्पयन्तम्) तृप्त करने वाले, (रयिष्ठाम्) धन के बीच ठहरने वाले, (सुपर्णम्) सुन्दर किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् पुरुष को (नः) हमारे (गोष्ठे) गोठ वा वार्तालाप स्थान में (आ) लाकर (स्थापयाति) [यह पुरुष] स्थान देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब लोकों के बीच ठहर कर भूगोल आदि लोकों को प्रकाश, वृष्टि आदि से सुखी करता है, वैसेही जो विद्वान् ज्ञान और उपदेश से सब जनों को आनन्दित करे, उसका सब लोग आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ५२ ॥

१—(दिव्यम्) दिव्यगुणम् (सुपर्णम्) रश्मियुक्तसूर्यतुल्यं विद्वांसम् (पयसम्) पय गतौ—असुन्, अर्श आद्यच् । गतिमन्तम् (बृहन्तम्) महान्तम् (अपाम्) अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (गर्भम् ।) गर्भ इव मध्ये स्थितम् (वृषभम्) वर्षयितारं वर्धयितारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (अभीपतः) ऋक्पूरब्धूः० । पा०५ । ४ । ७४ । अभि + अप् शब्दात्—अ । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् । पा०६।३।९७। अकारस्य ईत्वम् । ततस्तसिल् । अभितः सर्वत आपो यस्मिंस्तस्माद् मेघात् (वृष्ट्या) जलवर्षणेन (तर्पयन्तम्) हर्षयन्तम् (आ) आनीय (नः) अस्माकम् (गोष्ठे) वार्तालापस्थाने विद्वत्समाजे (रयिष्ठाम्) धने तिष्ठन्तम् (स्थापयाति) लेटि रूपम् । स्थापयेत् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—२ ॥ सरस्वान् देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर के उपासना का उपदेश ॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑पति॒ष्ठन्त॒ आप॑: । यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्तमव॑से हवामहे ॥ १ ॥

यस्य॑ । व्र॒तम् । प॒शवः॑ । यन्ति॑ । सर्वे॑ । यस्य॑ । व्र॒ते । उ॒प॒-ति॒ष्ठन्ते॑ । आप॑: । यस्य॑ । व्र॒ते । पु॒ष्ट-प॑तिः । नि-वि॑ष्टः । तम् । सर॑स्वन्तम् । अव॑से । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (व्रतम्) सुन्दर नियम पर (सर्वे) सब (पशवः) पशु अर्थात् प्राणी (यन्ति) चलते हैं, (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित रहते हैं। (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी, पूषा सूर्य (निविष्टः) प्रवेश किये हुये है, (तम्) उस (सरस्वन्तम्) बड़े विज्ञान वाले परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से यह सब लोक लोकान्तर परस्पर आकर्षण में रह कर एक दूसरे का सहाय करते हैं,उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॑ दा॒श्वंसं॒ सर॑स्वन्तं पुष्ट॒पतिं॑ र॒यि-

१—(यस्य) सरस्वतः (व्रतम्) वरणीयं नियमम् (पशवः) अ० २ । २६ । १ । पशवः=व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । सर्वे प्राणिनः (यन्ति) गच्छन्ति (व्रते) शासने (उपतिष्ठन्ते) अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिताः सन्ति (आपः) जलानि (पुष्टपतिः) पोषणस्य स्वामी । पूषा सूर्यः (तम्) तादृशम् (सरस्वन्तम्) सरांसि श्रेष्ठानि विज्ञानानि सन्ति यस्मिंस्तं परमेश्वरम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे)आह्वयामः ॥

ष्ठाम् । रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्टऽपतिम् । रयिऽस्थाम् । रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापक, (दाशुषे) आत्मदान करने वाले [भक्त] को (दाश्वंसम्) सुख देने वाले (पुष्टपतिम्) पोषण के स्वामी, (रयिष्ठाम्) धन में स्थिति वाले, (रायः) धन के (पोषम्) बढ़ाने वाले, (श्रवस्युम्) सुनने वाले, (रयीणाम्) अनेक धनों के (सदनम्) भण्डार (सरस्वन्तम्) बड़े ज्ञानवान् परमेश्वर को (वसानाः) स्वीकार करते हुये हम लोग (इह) यहां पर (आ) सब प्रकार (हुवेम) बुलावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर के अनन्त भण्डार से अनेक प्रकार के धन प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१—२ ॥ श्येनो देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ।

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।

२—(आ) समन्तात् (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापकम् (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १ । आत्मानं दत्तवते (दाश्वंसम्) छान्दसो ह्रस्वः । दाश्वांसम् । सुखस्य दातारम् (सरस्वन्तम्)—म० १ । पूर्णविज्ञानवन्तम् (पुष्टपतिम्) पोषणस्य स्वामिनम् (रयिष्ठम्) धने स्थितम् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ पचाद्यच् । पोषकम् (श्रवस्युम्) अ० ६ । ६८ । २ । श्रवणशीलम् (वसानाः) वस स्वीकारे चुरादिः, शानचि छान्दसं रूपम् । स्वीकुर्वाणाः (इह) अस्मिन् संसारे (हुवेम), लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति ह्वेञ् आह्वाने—अङ् । बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । सम्प्रसारणम् । हूयास्म । आह्वयेम (सदनम्) गृहम् (रयीणाम्) धनानाम् ॥

तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वानि । अति । अपः । ततर्द । श्येनः । नृ-चक्षाः । अवसान-दर्शः । तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्या । शिवः । आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ–(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाले, (अवसानदर्शः) अन्त के देखने वाले, (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा ने (धन्वानि) निर्जल देशों को (अति) अत्यन्त करके और (अपः) जलों को (अति) अत्यन्त करके (ततर्द) पीड़ित [वशीभूत] किया है । (शिवः) मङ्गलकारी परमेश्वर (अवरा) अत्यन्त श्रेष्ठ (विश्वानि) सब (रजांसि) लोकों को (तरन्) तराता हुआ (सख्या) मित्ररूप (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (आ जगम्यात्) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के आधीन वृष्टि, अनावृष्टि, मनुष्यों के कर्मों के फल और श्रेष्ठों को मुक्ति दान आदि हैं। उस परमात्मा की भक्ति करके मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः । स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकं-

१—(अति) अत्यन्तम् (धन्वानि) धन्व गतौ—कनिन् । मरुस्थलानि (अति) (अपः) जलानि (ततर्द) तर्द हिंसायाम् । पीडितवान् । वशीकृतवान् (श्येनः) अ० ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४। १३ । ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) अ० ४ । १६ । ७ । मनुष्याणां द्रष्टा (अवसानदर्शः) षो अन्तकर्मणि—ल्युट् + दृशिर् दर्शने–अच् । सीमादर्शकः (तरन्) तारयन् । पारयन् (विश्वानि) (अवरा) नास्ति वरं यस्मात्तद् अवरमत्यन्त-श्रेष्ठम् । अवराणि । अत्यन्तश्रेष्ठानि (रजांसि) लोकान् (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (सख्या) मित्रभूतेन (शिवः) मङ्गलकारी (आ जगम्यात्) अ० ७ । २६ । २ । आगच्छेत् ॥

मस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृ-चक्षाः । दिव्यः । सु-पर्णः । सहस्र-पात् । शत-योनिः । वयः-धाः । सः । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । परा-भृतम् । अस्माकम् । अस्तु । पितृषु । स्वधा-वत् ॥२॥

भाषार्थ-(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाला, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप, (सुपर्णः) बड़ी पालन शक्ति वाला (सहस्रपात्) सहस्रों. असीम पाद अर्थात् गति शक्ति वाला, [मन से अधिक वेग वाला -यजु० ४०।४] (शतयोनिः) सैकड़ों [अगणित] लोकों का घर, (वयोधाः) अन्नदाता (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा है। (सः) वह (नः) हमें (वसु) वह धन (नि) निरन्तर (यच्छात्) देवे, (यत्) जो (पराभृतम्) पराक्रम से धारण किया गया (अस्माकम्) हमारे (पितृषु) पितरों [बड़े बूढ़ों] के बीच (स्वधावत्) आत्मधारण शक्ति वाला (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्यों को विचारकर अनेक उद्योगों के साथ विद्वानों का पालन करके सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-२ ॥ सोमारुद्रौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजवैद्ययोर्गुणोपदेशः—राजा और वैद्य के गुणों का उपदेश ॥

२—(श्येनः) म० १। ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा (दिव्यः) अद्भुतस्वरूपः (सुपर्णः) अ० १।२४।१। शोभनपालनः (सहस्र-पात्) पद गतौ—घञ्। संख्यासुपूर्वस्य। पा० ५।४।१४०। अन्त्यलोपः। सहस्राणि अपरिमिताः पादा गतिशक्तयो यस्य सः। मनसो जवीयः—यजु० ४०। ४। इति श्रुतेः (शतयोनिः) योनिर्गृहम्—निघ० ३।४। अपरिमितानां लोकानां गृहम् (वयोधाः) अ० ५।११।११। अन्नस्य दाता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (नि) निरन्तरम् (यच्छात्) दद्यात् (वसु) धनम् (यत्) (पराभृतम्) पराक्रमेण भृतम् (अस्माकम्) (अस्तु) (पितृषु) पित्रादिमान्येषु (स्वधावत्) अ० ३।२९।१। आत्मधारणसामर्थ्ययुक्तम् ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश । बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विषूचीम् । अमीवा । या । नः । गयम् । आ-विवेश । बाधेथाम् । दूरम् । निः-ऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः । प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥१॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान सुखदायक राजा और वैद्य !] तुम दोनों (विषूचीम्) विसूचिका, [हुलकी आदि] को (विवृहतम्) छिन्न भिन्न कर दो, (या अमीवा) जो रोग (नः गयम्) हमारे घर वा सन्तान में (आविवेश) प्रवेश कर गया है । (निर्ऋतिम्) दुःख-दायिनी कुनीति को (पराचैः) औंधे मुह करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ, और (कृतम्) उसके किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र मुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥१॥

भावार्थ—जो राजा और वैद्य कारणों को समझ कर कुनीति और रोग का प्रतिकार करते हैं, वहां प्रजागण दुःख से छूटकर सुखी रहते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ७४ । २, ३ । इनका भाष्य महर्षि दयानन्द के आश्रय पर किया गया है ॥

१—(सोमारुद्रा) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु १४ । १२ । रुद्रो रौतीति सतः—निरु० १० । ५ । मध्यस्थानो मेघः । सूर्यमेघवत् सुखप्रदौ राजवैद्यौ (वि वृहतम्) वृहू उद्यमने । छेदयतम् (विषूचीम्) अ० १ । २६ । १ । विषु+अञ्चु गतौ–क्विन् । विषूचिकादिरोगम् (अमीवा) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे पीडने च–वन, ईडागमः, टाप् । रोगः (या) (नः) अस्माकम् (गयम्) गृहमपत्यं वा (आविवेश) प्रविष्टवती (बाधेथाम्) निवारयतम् (दूरम्) (निर्ऋतिम्) दुःखप्रदां कुनीतिम् (पराचैः) अ० २ । १० । ५ । पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) तया सम्पादितम् (एनः) दोषम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) मोचयतम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

सोमारुद्रा युवमे॒तान्य॒स्मद् विश्वा॑ तनूषु॑ भेष॒जानि॑ धत्तम् ।
अव॑ स्यतं मु॒ञ्चतं॒ यन्नो॒ अस॑त् तनूषु॑ ब॒द्धं कृ॒तमेनो॑ अ॒स्मत् ॥२॥

सोमा॑रुद्रा । यु॒वम् । ए॒तानि॑ । अ॒स्मत् । विश्वा॑ । त॒नूषु॑ । भे॒ष॒जानि॑ । ध॒त्तम् । अव॑ । स्य॒त॒म् । मु॒ञ्चत॑म् । यत् । नः॒ । अस॑त् । त॒नूषु॑ । ब॒द्धम् । कृ॒तम् । एनः॑ । अ॒स्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान उपकारी राजा और वैद्य !] (युवम्) तुम दोनों (एतानि विश्वा भेषजानि) इन सब औषधों को (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (धत्तम्) रक्खो । (यत्) जो (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (बद्धम्) लगा हुआ और (कृतम्) किया हुआ (एनः) दोष (असत्) होवे, [उसे] (अस्मत्) हमसे (अव स्यतम्) नष्ट करो और (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भावार्थ—राजा और वैद्य वैद्यक विद्या के प्रचार से प्रजा को कुपथ्य आदि दोषों से बचाकर नीरोग और पुरुषार्थी बनाकर सुखी रक्खें ॥२॥

सूक्तम् ४३ ॥

१ ॥ वाचो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याण्या वाचः प्रचारोपदेशः—कल्याणी वाणी के प्रचार का उपदेश ॥

शि॒वास्त॒ एका॒ अशि॑वास्त॒ एकाः॒ सर्वा॑ बिभर्षि सुमन॒स्यमा॑नः । ति॒स्रो वाचो॒ निहि॑ता अ॒न्तर॒स्मिन् तासा॒मेका॒ वि प॑पा॒तानु॒ घोष॑म् ॥ १ ॥

२—(सोमारुद्रा) म० १ (युवम्) युवाम् (एतानि) रोगनिवारकाणि (अस्मत्) षष्ठ्या लुक् । अस्माकम् (विश्वा) सर्वाणि (तनूषु) शरीरेषु (भेषजानि) औषधानि (धत्तम्) धारयतम् (अव स्यतम्) षो अन्तकर्मणि । सर्वथा नाशयतम् (मुञ्चतम्) वियोजयतम् (यत्) दुःखम् (नः) अस्माकम् (असत्) स्यात् (बद्धम्) लग्नम् (कृतम्) (एनः) कुपथ्यादिदोषम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । बिभर्षि । सु-मनस्यमानः । तिस्रः । वाचः । नि-हिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एका । वि । पपात । अनु । घोषम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे पुरुष!] (ते) तेरी (एकाः) कोई [वाचायें] (शिवाः) कल्याणी हैं और (ते) तेरी (एकाः) कोई (अशिवाः) अकल्याणी हैं [और कोई माध्यमिका हैं], (सर्वाः) इन सब को (सुमनस्यमानः) अच्छे प्रकार मनन करता हुआ तू (बिभर्षि) धारण करता है। (तिस्रः) यह तीनों (वाचः) वाचायें (अस्मिन् अन्तः) इस [आत्मा] के भीतर (निहिताः) रक्खी रहती हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाः) एक [कल्याणी वाणी] (घोषम् अनु) उच्चारण के साथ साथ (वि) विशेष करके (पपात) ऐश्वर्यवती हुई है॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने हृदय में हित, अहित और उदासीनता का विचार करके एक हित ही बोलते हैं, वही ऐश्वर्यवान् पुरुष संसार को ऐश्वर्यवान् करते हैं॥१॥

सूक्तम् ४४॥

१॥ इन्द्राविष्णू देवते॥ त्रिष्टुप् छन्दः॥

सभासेनेशकर्मोपदेशः—सभा और सेना के स्वामी के कर्म का उपदेश॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि

१—(शिवाः) कल्याण्यः। वेदवाचः (ते) तव (एकाः) अन्याः (अशिवाः) अकल्याण्यः। अहिताः (ते) (एकाः) (सर्वाः) शिवा अशिवा माध्यमिका वाचश्च (बिभर्षि) धरसि (सुमनस्यमानः) अ० १।३५।१। शोभनं ध्यायन्। सुमननशीलः (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (वाचः) वाण्यः (निहिताः) अवस्थिताः (अन्तः) मध्ये (अस्मिन्) आत्मनि। मनसि (तासाम्) वाचां मध्ये (एका) शिवा वाक् (वि) विशेषेण (पपात) पत ऐश्वर्ये-लिट्। ईश्वरी बभूव (अनु) अनुसृत्य (घोषम्) उच्चारणध्वनिम्॥

तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

उभा। जिग्यथुः। न। परा। जयेथे इति। न। परा। जिग्ये। कतरः। चन। एनयोः। इन्द्रः। च। विष्णो इति। यत्। अपस्पृधेथाम्। त्रेधा। सहस्रम्। वि। तत्। ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे बिजुली [के समान व्याप्त होने वाले सभापति !] (च) और (इन्द्रः) हे वायु [के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति !] (उभा) तुम दोनों ने [शत्रुओं को] (जिग्यथुः) जीता है, और तुम दोनों (न) कभी नहीं (परा जयेथे) हारते हो, (एनयोः) इन [तुम] दोनों में से (कतरः चन) कोई भी (न) नहीं (परा जिग्ये) हारा है। (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्) तुम दोनों ललकारे हो, (तत्) तब (सहस्रम्) असंख्य [शत्रु सेनादल] को (त्रेधा) तीन विधि पर [ऊंचे, नीचे और मध्य स्थान में] (वि) विविध प्रकार से (ऐरयेथाम्) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥१॥

भावार्थ—जहां पर सभापति और सेनापति पराक्रमी, प्रतापी और नीतिमान् होते हैं, वहां शत्रु लोग नहीं ठहरते ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ६९। ८॥

इसका भाष्य यहां महर्षि दयानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-२ ॥ भेषजं देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ।

१—(उभा) इन्द्राविष्णू। सभासेनेशौ (जिग्यथुः) लिटि रूपम्। युवां जितवन्तौ शत्रून् (न) निषेधे (परा जयेथे) लटि रूपम्। पराजयं प्राप्नुथः (न) (पराजिग्ये) पराजितो बभूव (कतरः) द्वयोर्मध्ये एकतरः (चन) अपि (एनयोः) अनयोर्मध्ये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वायुवद्वर्तमानः सेनापतिस्त्वम् (विष्णो) विद्युद्वद्व्यापनशील सभापते (यत्) यदा (अपस्पृधेथाम्) अपस्पृधेथामानृचुरा०। पा० ६। १। ३६। स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं सम्प्रसारणं च। अस्पर्धेथाम् शत्रुभिः सह (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उच्चनीचमध्यस्थानेन (सहस्रम्) असंख्यं शत्रुसैन्यम् (वि) विशेषेण (तत्) तदा (ऐरयेथाम्) ईर—लङ्। बहिष्कृतवन्तौ ॥

ईर्ष्यादोषनिवारणोपदेशः—ईर्ष्या दोष के निवारण का उपदेश ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

जनात् । विश्व-जनीनात् । सिन्धुतः । परि । आ-भृतम् । दूरात् ।
त्वा । मन्ये । उत्-भृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे भयनिवारक ज्ञान !] (सिन्धुतः) समुद्र [के समान गम्भीर स्वभाव वाले (विश्वजनीनात्) सब जनों के हितकारी (जनात्) जनके पास से (दूरात्) दूर देश से (परि) सब प्रकार (आभृतम्) लाये हुये और (उद्भृतम्) उत्तमता से पुष्ट किये हुये (त्वा) तुझको (ईर्ष्यायाः) दाह का (नाम) प्रसिद्ध (भेषजम्) भयनिवारक औषध (मन्ये) मैं मानता हूं ॥१

भावार्थ—जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम औषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्व हितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्षा छोड़ कर दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझें ॥१॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।
एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्-इव । शमय ॥२॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (दहतः) जलती हुई (अग्नेः इव) अग्नि के

१—(जनात्) लोकात् (विश्वजनीनात्) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । इति ख । सर्वजनहितात् (सिन्धुतः) समुद्र इव गम्भीरस्वभावात् (परि) सर्वतः (आभृतम्) हस्य भः । आहृतम् (दूरात्) दूरदेशात् (त्वा) त्वां भेषजम् (मन्ये) जानामि (उद्भृतम्) उत्तमतया पोषितम् (ईर्ष्यायाः) अ० ६ । १८ । १ । परोत्कर्षासहनतायाः (नाम) प्रसिद्धम् (भेषजम्) भयनिवारकमौषधं ज्ञानमित्यर्थः ॥

२—(अग्नेः) पाचकस्य (इव) यथा (अस्य) पुरोवर्तिनः (दहतः)

समान, (पृथक्) अथवा (दहतः) जलती हुई (दावस्य) वन अग्नि के [समान] (एतस्य) इस पुरुष की (एनाम्) इस (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (शमय) शान्त कर दे, (इव) जैसे (उद्ना) जल से (अग्निम्) आग को ॥२॥

भावार्थ—ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है, इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रक्खे जैसे अग्नि को जल से ॥२॥

सूक्तम् ४६ ॥

१-३ ॥ सिनीवाली देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुणों का उपदेश ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथु-स्तुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।
जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । दिदिड्ढि । नः ॥१॥

भाषार्थ—(पृथुष्टुके) हे बहुत स्तुतिवाली ! (सिनीवालि) अन्न-वाली [वा प्रेमयुक्त बल करने वाली] गृहपत्नी ! (या) जो तू (देवानाम्) दिव्यगुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वा ग्रहण करनेवाली (असि) है। सो तू (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य, (आहुतम्) सब प्रकार

ज्वलतः (दावस्य) टु दु उपतापे—घञ् । वनाग्नेः (दहतः) (पृथक्) भिन्ने । अथवा (एताम्) (एतस्य) ईर्ष्यालोः पुरुषस्य (ईर्ष्याम्) मत्सरबुद्धिम् (उद्ना) अ० ३ । १२ । ४ । उदकेन (अग्निम्) (इव) (शमय) शान्तां कुरु ॥ ३ ॥

१—(सिनीवालि) अ० २ । २६ । २ । षिञ् बन्धने—नक्, ङीप् + वल जीवने दाने च—अण्, ङीप्। हे अन्नवति—निरु० ११ । ३१ । यद्वा सिनी प्रेमबद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ (पृथुष्टुके) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति ष्टुञ् स्तुतौ—कक् । बहुस्तुतियुक्ते (या) (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (असि) भवसि (स्वसा) अ० ५ । ५ । १ । सु + अस दीप्तौ ग्रहणे च—ऋन् । सुष्ठु दीपयित्री ग्रहीत्री वा (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्)

स्वीकार किये व्यवहार का (जुषस्व) सेवन कर और (देवि) हे कामनायोग्य देवी ! (नः) हमारे लिये (प्रजाम्) सन्तान (दिदिड्ढि) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस घर में अन्नवती, सुशिक्षित, व्यवहार कुशल स्त्रियां होती हैं, वहीं उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२ । ३२ । ६ । और यजुर्वेद—३४ । १० । तथा—निरु० ११ । ३२ । में व्याख्यात है ॥

या सु॑बा॒हुः स्व॑ङ्गु॒रिः सु॒षूमा॑ बहु॒सूव॑री ।
तस्यै॑ वि॒श्पत्न्यै॑ ह॒विः सि॑नीवा॒ल्यै जु॑होतन ॥ २ ॥

या । सु॒-बा॒हुः । सु॒-अ॒ङ्गु॒रिः । सु॒-सूमा॑ । ब॒हु॒-सूव॑री ।
तस्यै॑ । वि॒श्पत्न्यै॑ । ह॒विः । सि॒नी॒वा॒ल्यै॑ । जु॒हो॒त॒न ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (सुबाहुः) शुभकर्मों में भुजा रखने वाली, (स्वङ्गुरिः) सुन्दर व्यवहारों में अङ्गुरी रखने वाली, (सुषूमा) भली भांति आगे चलने वाली, और (बहुसूवरी) बहुत प्रकार से वीरों की उत्पन्न करने वाली, [माता है] । (तस्यै) उस (विश्पत्न्यै) प्रजाओं की पालने वाली, (सिनीवाल्यै) बहुत अन्न वाली [गृहपत्नी] को (हविः) देने योग्य पदार्थ का (जुहोतन) दान करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्रियां गृहकार्य में चतुर वीर सन्तान उत्पन्न करने हारी हैं, उनका सत्कार सब मनुष्यों को सदा करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२ । ३२ । ७ ॥

समन्तात् स्वीकृतं व्यवहारम् (प्रजाम्) सुसन्तानरूपाम् (देवि) कमनीये विदुषि (दिदिड्ढि) दिश दाने-लोटि, शपःश्लु । दिश । देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

२—(या) पत्नी (सुबाहुः) शुभकर्मसु बाहू यस्याः सा (स्वङ्गुरिः) शोभनेषु व्यवहारेषु अङ्गुरयो यस्याः सा (सुषूमा) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । षू प्रेरणे—मक्, टाप् । सुप्रेरयित्री । सुनेत्री (बहुसूवरी) षू प्रसवे—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । बहुविधं वीराणां जनयित्री (तस्यै) (विश्पत्न्यै) प्रजानां पालयित्र्यै (हविः) दातव्यं पदार्थम् (सिनीवाल्यै) म० १ । अन्नवत्यै (जुहोतन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति हु दानादिषु लोटि तस्य तनप् । जुहुत । दत्त ॥

या वि॒श्पत्नीन्द्र॒मसि॑ प्र॒तीची॑ स॒हस्र॑स्तुकाभि॒यन्ती॑ दे॒वी।
विष्णोः॑ पत्नि॒ तुभ्यं॑ रा॒ता ह॒वींषि॒ पतिं॑ देवि॒ राध॑से
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । वि॒श्पत्नी॑ । इन्द्र॑म् । अ॒सि॒ । प्र॒तीची॑ । स॒हस्र॑-स्तुका ।
अ॒भि-यन्ती॑ । दे॒वी । विष्णोः॑ । प॒त्नि॒ । तुभ्य॑म् । रा॒ता ।
ह॒वींषि॑ । पति॑म् । दे॒वि॒ । राध॑से । चो॒द॒य॒स्व॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो (विश्पत्नी) सन्तानों की पालने वाली, (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली, (सहस्रस्तुका) सहस्रों स्तुतिवाली, (अभियन्ती) चारों ओर चलती हुई (देवी) देवी तू (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (असि=असस्ति) ग्रहण करती है। (विष्णोः पत्नि) हे कामों में व्यापक वीर पुरुष की पत्नी ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (हवींषि) देने योग्य पदार्थ (राता) दिये गये हैं, (देवि) हे देवी ! (पतिम्) अपने पति को (राधसे) सम्पत्ति के लिये (चोदयस्व) आगे बढ़ा ॥३॥

भावार्थ—स्त्रियां गृहकार्य में चतुर रह कर अपने पतियों द्वारा धन संचय कराकर सन्तान पालन आदि कार्य करती रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-२ ॥ कूहूर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुण का उपदेश ॥

कु॒हूं दे॒वीं सु॒कृतं॑ विद्म॒नाप॑सम॒स्मिन् य॒ज्ञे सु॒हवा॑ जोह-
वीमि। सा नो॑ र॒यिं वि॒श्ववा॑रं॒ नि य॑च्छा॒द् ददा॑तु

३—(या) (विश्पत्नी) प्रजानां पालयित्री (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (असि) अस ग्रहणे। असस्ति गृह्णासि (प्रतीची) अ० ७। ३८। ३। निश्चितज्ञानयुक्ता। (सहस्रस्तुका) म० १। ष्टुञ्–कक्। असंख्यस्तुतियुक्ता (अभियन्ती) अभितो गच्छन्ती (देवी) व्यवहारकुशला (विष्णोः) कार्येषु व्यापकस्य पत्युः (पत्नि) (तुभ्यम्) (राता) दत्तानि (हवींषि) दातव्यानि वस्तूनि (पतिम्) स्वामिनम् (देवि) (राधसे) धनाय—निघ० २। १० (चोदयस्व) प्रेरयस्व। प्रगमय ॥

वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सु-कृतम् । विद्मना-अपसम् । अस्मिन् । यज्ञे । सु-हवा । जोहवीमि । सा । नः । रयिम् । विश्व-वारम् । नि । यच्छात् । ददातु । वीरम् । शत-दायम् । उक्थ्यम् ॥

भाषार्थ—(सुकृतम्) सुन्दर काम करने वाली, (विद्मनापसम्) कर्तव्यों को जानने वाली, (देवीम्) दिव्यगुणवाली (कुहूम्) कुहू, अर्थात् अद्भुत स्वभाव वाली स्त्री को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (सुहवा) विनीत बुलावे के साथ (जोहवीमि) मैं बुलाता हूं। (सा) वह (नः) हमें (विश्ववारम्) सब उत्तम व्यवहार वाले (रयिम्) धन को (नि) नित्य (यच्छात्) देती रहे और (शतदायम्) असंख्य धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—गुणवती, समझदार स्त्री गृहकार्य में परिमितव्यय कर धनवती होकर अपने सन्तानों को उत्तम वीर बनावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से-निरु० ११। ३३। में व्याख्यात है ॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।

१—(कुहूम्) भृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । कुह विस्मापने-कु, ऊङ् । सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्यौ–निरु० ११। ३१। कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयत इति वा । क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ११—३२ । कुहूः पदनाम-निघ० ५। ५। विस्मापनशीलाम्। अद्भुतस्वभावां स्त्रियम् (देवीम्) दिव्यगुणाम् (सुकृतम्) सुकर्माणम् (विद्मनापसम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति विद ज्ञाने—मक् । विद्मो वेदनम्, तद्वत् विद्मनम्, पामादिलक्षणो न प्रत्ययः, अपः कर्म । विद्मनानि विदितान्यपांसि कर्माणि यस्यास्ताम् । विदितकर्माणम्—निरु० ११। ३३ (अस्मिन्) (यज्ञे) पूजनीये कर्मणि (सुहवा) विभक्तेराकारः । सुहवेन । शोभनाह्वानेन (जोहवीमि) भृशमाह्वयामि (सा) कुहूः (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (विश्ववारम्) सर्ववरणीयव्यवहारयुक्तम् (नि) नित्यम् (यच्छात्) दद्यात् (ददातु) (वीरम्) वीरसन्तानम् (शतदायम्) ददातेर्घञ्, युक् । बहुधनम् (उक्थ्यम्) प्रशस्यम् ॥

शृणोतु यज्ञमु॑श॒ती नो॑ अ॒द्य रा॒यस्पोषं॑ चिकि॒तुषी॑ दधातु २

कुहूः । दे॒वाना॑म् । अ॒मृत॑स्य । पत्नी॑ । हव्या॑ । नः॒ । अ॒स्य॒ । ह॒विषः॑ । जु॒षे॒त॒ । शृ॒णोतु॑ । य॒ज्ञम् । उ॒श॒ती । नः॒ । अ॒द्य । रा॒यः । पोष॑म् । चि॒कि॒तुषी॑ । द॒धा॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के बीच (अमृतस्य) अमर [पुरुषार्थी] पुरुष की (पत्नी) पत्नी (हव्या) बुलाने योग्य वा स्वीकार करने योग्य; (कुहूः) कुहू अर्थात् विचित्र स्वभाववाली स्त्री (नः) हमारे (अस्य) इस (हविषः) ग्रहण योग्य कर्म का (जुषेत) सेवन करे। (यज्ञम्) सत्संग की (उशती) इच्छा करती हुई (चिकितुषी) विज्ञानवती वह (अद्य) आज (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (दधातु) पुष्ट करे ॥२॥

भावार्थ—जिस घर में यशस्वी पुरुष की पत्नी सब घरवालों की सुधि रखने वाली और परिमित व्ययवाली होती है। वहां वह धन बढ़ाकर सब को आनन्द देती है ॥ २ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२ ॥ राका देवता ॥ जगती छन्दः ॥

स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्यों का उपदेश ॥

रा॒काम॒हं सु॒हवा॑ सुष्टु॒ती हु॑वे शृ॒णोतु॑ नः सु॒भगा॒ बोध॑तु॒ त्मना॑ । सीव्य॒त्वपः॑ सू॒च्याच्छि॑द्यमानया॒ ददा॑तु वी॒रं

२—(कुहूः) म० १ । विचित्रस्वभावा (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अमृतस्य) अमरस्य । पुरुषार्थिनः पुरुषस्य (पत्नी) भार्या (हव्या) आह्वातव्या । स्वीकरणीया वा (नः) अस्माकम् (अस्य) उपस्थितस्य (हविषः) ग्राह्यकर्मणः (जुषेत) सेवनं कुर्यात् (शृणोतु) आकर्णयतु (यज्ञम्) सत्संगम् (उशती) वश कान्तौ—शतृ । कामयमाना (नः) अस्माकं वचनम् (अद्य) (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (चिकितुषी) अ० ४ । ३० । २ । विज्ञानवती (दधातु) पोषयतु ॥

शा॒तदा॑यमु॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

रा॒काम् । अ॒हम् । सु॒-हवा॑ । सु॒-स्तु॒ती । हु॒वे॒ । शृ॒णोतु॑ । नः॒ ।
सु॒-भगा॑ । बोध॑तु । त्मना॑ । सीव्य॑तु । अपः॑ । सू॒च्या । अच्छि॑द्य॒-
मानया । ददा॑तु । वी॒रम् । शत-दा॑यम् । उ॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राकाम्) राका, अर्थात् सुख देनेवाली वा पूर्णमासी के समान शोभायमान पत्नी को (सुहवा) सुन्दर बुलावे से और (सुष्टुती) बड़ी स्तुति से (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं, (सुभगा) वह सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्यवाली] (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (त्मना) अपने आत्मा से (बोधतु) समझे। और (अच्छिद्यमानया) न टूटती हुई (सूच्या) सुई से (अपः) कर्म [गृहस्थ कर्तव्य] को (सीव्यतु) सीयें, और (शत-दायम्) सैकड़ों धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुष सुखदायिनी, अनेक शुभगुणों से शोभायमान पूर्णमासी के समान पत्नी को आदर से बुलावे और वह ध्यान देकर पति के सम्मति से गृहस्थ कर्तव्य को लगातार प्रयत्न से करती हुई वीर पुरुषार्थी सन्तान उत्पन्न करे, जैसे अच्छी दृढ़ सुई से सींकर वस्त्र को सुन्दर बनाते हैं ॥ १ ॥

१—(राकाम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । रा दाने—क, टाप् । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते-निरु० ११ । २६ । राका रातेर्दानकर्मणः—निरु० ११ । ३० । राका पदनाम—निघ० ५ । ५ । सुखदात्रीम् । पौर्णमासीम् । पौर्णमासीसमानशोभायमानाम् (अहम्) पतिः (सुहवा) अ० ७ । ४७ । १ । शुभाह्वानेन (सुष्टुती) शोभनया स्तुत्या (हुवे) आह्वयामि (शृणोतु) (नः) अस्मान् (सुभगा) शोभनैश्वर्ययुक्ता (बोधतु) जानातु (त्मना) स्वात्मना (सीव्यतु) षिवु तन्तुसन्ताने । सन्तनोतु (अपः) कर्म (सूच्या) सिवेष्टेरू च । उ० ४ । ९३ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—चट्, ङीप् । स्वनामख्यातया सीवनसाधनया (अच्छिद्यमानया) छेत्तुमनर्हया । अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ७ । ४७ । १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं— २ । ३२ । ४, ५ । और महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि, सीमन्तोन्नयन प्रकरण में हैं । और मन्त्र एक—निरु० ११ । ३१ । में व्याख्यात है ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

याः । ते । राके । सु-मतयः । सु-पेशसः । याभिः । ददासि । दाशुषे । वसूनि । ताभिः । नः । अद्य । सु-मनाः । उप-आगहि । सहस्र-पोषम् । सु-भगे । रराणा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राके) हे सुखदायिनी ! वा पूर्णमासी समान शोभायमान पत्नी ! (याः) जो (ते) तेरी (सुमतयः) सुमतियें (सुपेशसः) बहुत सुवर्ण वाली हैं, (याभिः) जिनसे तू (दाशुषे) धन देने वाले [मुझ पति] को (वसूनि) अनेक धन (ददासि) देती है । (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (ताभिः) उन [सुमतियों] से (नः) हमें (सहस्रपोषम्) सहस्र प्रकार से पुष्टि को (रराणा) देती हुई, (सुमनाः) प्रसन्न मन होकर (अद्य) आज (उपागहि) समीप आ ॥ २ ॥

भावार्थ—विदुषी, सुलक्षणा, विचारशील, प्रसन्नचित्त पत्नी धन और सम्पत्ति की रक्षा और बढ़ती करती हुई पतिप्रिया होकर घर में सुख बढ़ाती रहे ॥२

२—(याः) (ते) तव (राके) म० १ । सुखप्रदे । पूर्णमासीसमशोभायमाने (सुमतयः) कल्याणबुद्धयः (सुपेशसः) पिश अवयवे, दीप्तौ च—असुन् । पेशः=हिरण्यम्—निघ० १ । २, रूपम्—निघ० ३ । ७ । बहुहिरण्ययुक्ताः (याभिः) (ददासि) (दाशुषे) धनस्य दात्रे पत्ये (वसूनि) धनानि (ताभिः) सुमतिभिः (अद्य) (सुमनाः) प्रसन्नचित्ता (उपागहि) समीपमागच्छ (सहस्रपोषम्) असंख्यपुष्टिम् (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते (रराणा) अ० ५ । २७ । ११ । प्रयच्छन्ती ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२॥ देवपत्न्यो देवताः ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः ॥

राजवद्राज्ञीन्यायोपदेशः—राजा के समान रानी को न्याय का उपदेश ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानाम्। पत्नीः। उशतीः। अवन्तु। नः। प्र। अवन्तु। नः। तुजये। वाज-सातये। याः। पार्थिवासः। याः। अपाम्। अपि। व्रते। ताः। नः। देवीः। सु-हवाः। शर्म। यच्छन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (उशतीः) [उपकार की) इच्छा करती हुई (देवानाम्) विद्वानों वा राजाओं की (पत्नीः) पत्नियां (नः) हमें (अवन्तु) तृप्त करें और (तुजये) बल वा स्थान के लिये और (वाजसातये) अन्न देने वाले संग्राम [जीतने] के लिये (नः) हमारी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें। और (अपि) भी (याः) जो (पार्थिवासः) और जो पृथिवी की रानियां (अपाम्) जलों के (व्रते) स्वभाव में [उपकारवाली] हैं, (ताः) वे सब (सुहवाः) सुन्दर बुलावे योग्य (देवीः) देवियां (नः) हमें (शर्म) घर वा सुख (यच्छन्तु) देवें ॥ १ ॥

१—(देवानाम्) विदुषां राज्ञां वा (पत्नीः) पत्न्यः (उशतीः) उशत्यः उपकारं कामयमानाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (नः) अस्मान् (प्र) प्रकर्षेण (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (तुजये) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२० तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन्। बलाय। निवासाय (वाजसातये) ऊतियूतिजूतिसाति०। पा० ३। ३। ९७। षणु दाने-क्तिन्। वाजोऽन्नं दीयते येन तस्मै। अन्नलाभाय संग्रामाय-निघ० २। १७ (याः) पत्न्यः (पार्थिवासः) तस्येश्वरः। पा० ५। १ ४२। पृथिवी-अण्, असुक्। पार्थिव्यः। पृथिवीराज्ञ्यः (याः) (अपाम्) जलानाम् (अपि) (व्रते) स्वभावे (ताः) (नः) अस्मभ्यम् (देवीः) प्रकाशमानाः (सुहवाः) शोभनाह्वानाः (शर्म) सुखं गृहं वा (यच्छन्तु) ददतु ॥

भावार्थ—विद्वान् और राजा लोगों के समान उनकी स्त्रियां भी उपकार करके प्रजा पालन करें॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—५।४६।७, ८; और निरुक्त में भी व्याख्यात हैं–१२।४५, ४६॥

उत ग्ना व्यन्तु दे॒वप॑त्नीरिन्द्रा॒ण्य॑१॒ग्नाय्य॒श्विनी॒ राट्।
आ रोद॑सी वरुणानी शृ॑णोतु॒ व्यन्तु॑ दे॒वीर्य ऋ॒तुर्ज॑नीनाम् ॥ २ ॥

उ॒त। ग्नाः। व्य॒न्तु। दे॒व-प॑त्नीः। इ॒न्द्रा॒णी। अ॒ग्नायी॑। अ॒श्विनी॑। राट्। आ। रोद॑सी। व॒रु॒णा॒नी। शृ॒णो॒तु॒। व्य॒न्तु॑। दे॒वीः। यः। ऋ॒तुः। जनी॑नाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत) और भी (देवपत्नीः) विद्वानों वा राजाओं की पत्नियां, [अर्थात्] (राट्) ऐश्वर्यवाली, (इन्द्राणी) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, (अग्नायी) अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, (अश्विनी) शीघ्रगामी पुरुष की स्त्री [प्रजा की] (ग्नाः) वाणियों को (व्यन्तु) व्याप्त हों। (आ) और (रोदसी) रुद्र, ज्ञानवान् पुरुष की स्त्री अथवा (वरुणानी) श्रेष्ठजन की पत्नी [वाणियों को] (शृणोतु) सुने और (यः) जो (जनीनाम्)

२—(उत) अपि च (ग्नाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति गमेर्नः, टिलोपः, टाप्। मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्, ग्ना गच्छन्त्येनाः–निरु० ३। २१। ग्ना गमनादापो देवपत्न्यो वा–निरु० १०। ४७। ग्ना वाक्–निघ० १। ११। वाणीः (व्यन्तु) वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु। व्याप्नुवन्तु (देवपत्नीः) विदुषां राज्ञां वा पत्न्यः (इन्द्राणी) इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य पत्नी (अग्नायी) वृषाकप्यग्नि०। पा० ४। १। ३७। ऐकारादेशः, ङीप् च। अग्नेः पावकवद् वर्तमानस्य पत्नी (अश्विनी) आशुगामिनः स्त्री (राट्) राजति=ईष्टे–निघ० २। २१। राजृ–क्विप्। ऐश्वर्यवती (आ) समुच्चये (रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १। ८६। रुधिर् आवरणे–असुन्, धस्य दकारः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। ङीप्। रोधनशीला रुद्रस्य पत्नी–निरु० १२। ४६। ज्ञानवतः पत्नी (वरु-

स्त्रियों का [न्याय का] (ऋतुः) काल है, (देवीः) यह सब देवियां [उसकी] (व्यन्तु) चाहना करें ॥ २ ॥

भावार्थ—स्त्रियां स्त्रियों को अपनी न्याय सभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहिर के झगड़ों को उचित समय पर निर्णय करें, और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-९ ॥ इन्द्र आत्मा वा देवता ॥ १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति । एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । बध्यासम् । अप्रति ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (अशनिः) बिजुली (विश्वाहा) सब दिनों (अप्रति) बे रोक होकर (वृक्षम्) पेड़ को (हन्ति) गिरा देती है । (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (अद्य) आज (अप्रति) बे रोक होकर (अक्षैः) पाशों से (कितवान्) ज्ञान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को (बध्यासम्) नाश करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जुआरी, लुटेरे आदिकों को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें ॥ १ ॥

णानी) श्रेष्ठजनस्य पत्नी (शृणोतु) (व्यन्तु) कामयन्ताम् (देवीः) विदुष्यः (ऋतुः) उपकारकालः (जनीनाम्) स्त्रीणाम् ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) तरुम् (अशनिः) विद्युत् (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (हन्ति) नाशयति (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (एव) एवम् (अहम्) शूरः (अद्य) (कितवान्) कि ज्ञाने—क्त+वा गतिगन्धनयोः—क । कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान् वाशीर्नामकः—निरु० ५ । २२ । ज्ञाननाशकान् । वञ्चकान् । द्यूतकारकान् (अक्षैः) द्यूतसाधनैः पाशकादिभिः (बध्यासम्) हन्तेर्लिङि । नाशयेयम् ॥

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतुराणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् । सम्-एतु । विश्वतः । भगः । अन्तः-हस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

भाषार्थ—(तुराणाम्) शीघ्रकारी, (अतुराणाम्) अशीघ्रकारी (अवर्जुषीणाम्) [शत्रुओं को] न रोक सकने वाली (विशाम्) प्रजाओं का (भगः) धन (विश्वतः) सब प्रकार (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथ में आये हुये (कृतम्) कर्म को (समैतु) यथावत् प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा सब प्रकार प्रजा के धन को अपने वश में रख कर रक्षा करे ॥ २ ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥३॥

ईडे । अग्निम् । स्व-वसुम् । नमः-भिः । इह । प्र-सक्तः । वि । चयत् । कृतम् । नः । रथैः-इव । प्र । भरे । वाजयत्-भिः । प्र-दक्षिणम् । मरुताम् । स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्ववसुम्) बन्धुओं को धन देने वाले (अग्निम्) विद्वान् राजा को (नमोभिः) सत्कारों के साथ (ईडे) मैं ढूंढ़ता हूं, (प्रसक्तः) सन्तुष्ट वह (इह) यहां पर (नः) हमारे (कृतम्) कर्म का (वि चयत्)

२—(तुराणाम्) तुर त्वरणे—क । शीघ्रकारिणीनाम् (अतुराणाम्) अशीघ्रकारिणीनाम् (विशाम्) प्रजानाम् (अवर्जुषीणाम्) पॄनहिकलिभ्य उषच् । उ० ४ । ७५ । नञ्+वृजी वर्जने—उषच्, ङीप् । शत्रूणामवर्जनशीलानाम् (समैतु) सम्यक् प्राप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (भगः) धनम् (अन्तर्हस्तम्) हस्तमध्ये गतम् (कृतम्) कर्म (मम) ॥

३—(ईडे) अन्विच्छामि । ईडिरध्येषणकर्मा पूजा कर्मा वा—निरु० ७ । १५ । (अग्निम्) विद्वांसं राजानम् (स्ववसुम्) स्वेभ्यो बन्धुभ्यो धनं यस्य तम् (नमोभिः) सत्कारैः (इह) अत्र (प्रसक्तः) षञ्ज सङ्गे—क्त । सन्तुष्टः (विच-

विवेचन करे। (प्रदक्षिणम्) उसकी प्रदक्षिणा [आदर से पूज्य को दाहिनी ओर रखकर घूमना] (प्र) अच्छे प्रकार (भरे) मैं धारण करता हूं (इव) जैसे (वाजयद्भिः) शीघ्र चलने वाले (रथैः) रथों से, [जिससे] (मरुताम्) शूरवीरों में (स्तोमम्) स्तुति को (ऋध्याम्) मैं बढ़ाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण विद्वानों के सत्कार करने वाले विवेकी राजा के अधीन रह कर आदरपूर्वक उसकी आज्ञा मानकर शूरवीरों में अपना यश बढ़ावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। ६०। १ ॥

व॒यं ज॑येम॒ त्वया॑ यु॒जा वृत॑म॒स्माक॒मंश॒मुद॑वा॒ भरे॑भरे। अ॒स्मभ्य॑मिन्द्र॒ वरी॑यः सु॒गं कृ॑धि॒ प्र शत्रू॑णां मघव॒न् वृष्ण्या॑ रुज ॥ ४ ॥

व॒यम्। ज॒ये॒म॒। त्वया॑। यु॒जा। वृत॑म्। अ॒स्माक॑म्। अंश॑म्। उत्। अ॒व॒। भरे॑-भरे। अ॒स्मभ्य॑म्। इ॒न्द्र॒। वरी॑यः। सु॒-गम्। कृ॒धि॒। प्र। शत्रू॑णाम्। म॒घ॒-व॒न्। वृष्ण्या॑। रु॒ज॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र राजन्! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक वा ध्यानी के साथ (वयम्) हम लोग (वृतम्) घेरने वाले शत्रु को (जयेम) जीत लेवें, (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) भाग को (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में (उत्) उत्तमता से (अव) रख। (अस्मभ्यम्) हमारे लिये

यत्) विचिनुयात्। विवेकेन प्राप्नुयात् (कृतम्) कर्म (नः) अस्माकम् (रथैः) (इव) यथा (प्र) प्रकर्षेण (भरे) धरामि (वाजयद्भिः) वाज शब्दात् करोत्यर्थे णिच्। वाजं वेगं कुर्वद्भिः (प्रदक्षिणम्) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। पा० २। १। १७। इत्यव्ययीभावसमासः। प्रगतं दक्षिणमिति। दक्षिणावर्त्तेन पूज्यमुद्दिश्य भ्रमणम् (मरुताम्) शूराणां मध्ये—अ० १। २०। १ (स्तोमम्) स्तुतिम् (ऋध्याम्) अर्धयेयम्। वर्धयेयम् ॥

४—(वयम्) योद्धारः (जयेम) अभिभवेम (त्वया) (युजा) सहायेन ध्यानिना वा (वृतम्) वृणोतेः—क्विप्। आवरकं शत्रुम् (अस्माकम्) (अंशम्) धनजनविभागम् (उत्) उत्कर्षेण (अव) रक्ष (भरेभरे) सर्वस्मिन् संग्रामे

(वरीयः) विस्तीर्ण देश को (सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वृष्ण्या) साहसों को (प्र रुज) तोड़ दे ॥४॥

भावार्थ—सब योधा लोग सेनापति की सहायता लेकर अपने धन जन आदि की रक्षा करके शत्रुओं को जीतें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१।१०२।४॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत सं॒रुध॑म् ।
अविं वृको॒ यथा॒ मथ॑दे॒वा मथ्नामि ते कृ॒तम् ॥ ५ ॥

अजैषम् । त्वा । सम्-लिखितम् । अजैषम् । उत । सम्-रुधम् ।
अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (संलिखितम्) यथावत् लिखे हुये (त्वा) तुझको (अजैषम्) मैंने जीत लिया है, (उत) और (संरुधम्) रोक डालने वाले को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है। (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) बकरी को (मथत्) मथ डालता है, (एव) वैसे ही (ते) तेरे (कृतम्) कर्म को (मथ्नामि) मैं मथ डालूं ॥५॥

भावार्थ—जिस दुष्ट जन का नाम राजकीय पुस्तकों में लिखा हो, और बड़ा विघ्नकारी हो उसको यथावत् दण्ड मिलना चाहिये ॥ ५ ॥

उत प्र॒हाम॒तिदी॑वा जयति कृ॒तमि॑व श्व॒घ्नी वि चि॑नोति

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वरीयः) उरु—ईयसुन्, वरादेशः । उरुतरम् । विस्तीर्णतरं देशम् (सुगम्) सुगमम् (कृधि) कुरु (प्र) (शत्रूणाम्) (मघवन्) हे बहुधनवन् (वृष्ण्या) वृष्णि भवानि । सामर्थ्यानि (रुज) रुजो भङ्गे । भङ्ग्धि ॥

५—(अजैषम्) अहं जितवानस्मि (त्वा) त्वां शत्रुम् (संलिखितम्) राजकीय पुस्तकेषु सम्यग् लिखितम् (अजैषम्) (उत) अपि च (संरुधम्) रुधेः—क्विप् । निरोधकम् । विघ्नकारिणम् (अविम्) अजाम् (वृकः) अरण्यश्वा (यथा) (मथत्) मथ्नाति (एव) एवम् (मथ्नामि) नाशयामि (ते) तव (कृतम्) कर्म ॥

काले । यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्र-हाम् । अति-दीवा । जयति । कृतम्-इव । श्व-घ्नी । वि । चिनोति । काले । यः । देव-कामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥६॥

भाषार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहारकुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी शत्रु को (जयति) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करनेवाला जुआरी (काले) [हार के] समयपर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है। (यः) जो (देवकामः) शुभगुणों का चाहनेवाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इत्) ही (स्वधाभिः) आत्म धारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभगुण चाहनेवाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्म-बल पाता है ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ४२ । ९, १० ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।

६—(उत) अपि च (प्रहाम्) जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति बाहुलकात् हन्तेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नस्य आत्वम् । प्रहन्तारम् । उपद्रविणम् (अतिदीवा) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० । १ । १५६ । दिवु क्रीडाव्यवहारादिषु—कनिन्, दीर्घश्च । अतिव्यवहारकुशलः (जयति) (कृतम्) कर्म (इव) अवधारणे (श्वघ्नी) अ० ४ । १६ । ५ । धनहन्ता कितवः (वि चिनोति) विवेकेन प्राप्नोति (काले) पराजयकाले (यः) (देवकामः) शुभगुणान् कामयमानः (न) निषेधे (धनम्) (रुणद्धि) वर्जयति (इत्) एव (तम्) देवकामम् (रायः) धनानि (सम् सृजति) बहुवचनस्यैकवचनम्। सं सृजन्ति। संयोजयन्ति(स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥७॥

गोभिः। तरेम। अमतिम्। दुः-एवाम्। यवेन। वा। क्षुधम्।
पुरु-हूत। विश्वे। वयम्। राज-सु। प्रथमाः। धनानि।
अरिष्टासः। वृजनीभिः। जयेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये राजन् ! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गतिवाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) जव आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को। (वयम्) हम लोग (राजसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

कृतम्। मे। दक्षिणे। हस्ते। जयः। मे। सव्ये। आ-हितः।
गो-जित्। भूयासम्। अश्व-जित्। धनम्-जयः। हिरण्य-जित् ८

भाषार्थ—(कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथ

७—(गोभिः) वाग्भिः। विद्याभिः (तरेम) अभिभवेम (अमतिम्) दुर्बुद्धिम् (दुरेवाम्) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इण् गतौ—वन्। दुर्गतियुक्ताम् (यवेन) यवादिना (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (पुरुहूत) बह्वाह्वान (विश्वे) सर्वे वयम् (वयम्) (राजसु) नृपेषु (प्रथमाः) मुख्याः (धनानि) (अरिष्टासः) अहिंसिताः। अजेयाः (वृजनीभिः) कॄपॄवृजि०। उ० २। ८१। वृजी वर्जने—क्युन्। वर्जनशक्तिभिः। सेनाभिः ॥

८—(कृतम्) विहितं कर्म (मे) मम (दक्षिणे) (हस्ते) पाणौ (जयः)

में और (जयः) जीत (मे) मेरे (सव्ये) बायें हाथ में (आहितः) स्थित है। मैं (गोजित्) भूमि जीतनेवाला, (अश्वजित्) घोड़े जीतनेवाला, (धनंजयः) धन जतीनेवाला और (हिरण्यजित्) सुवर्णजीतनेवाला (भूयासम्) रहूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर सुखी होवें ॥ ८ ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फल-वतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्-इव ।
सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नाव्ना-इव । नह्यत ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अक्षाः) हे व्यवहारकुशल पुरुषो ! (क्षीरिणीम्) बड़ी दुधैल (गाम् इव) गऊ के समान (फलवतीम्) उत्तम फलवाली (द्युवम्) व्यवहार शक्ति (दत्त) दानकरो। (कृतस्य) कर्म की (धारया) धारा [प्रवाह] से (मा) मुझको (सम् नह्यत) यथावत् बांधो (इव) जैसे (स्नाव्ना) डोरी से (धनुः) धनुष को [बांधते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन सुफल करें ॥ ९ ॥

उत्कर्षः (मे) (सव्ये) वामे (आहितः) स्थापितः (गोजित्) भूमिजेता (भूयासम्) (अश्वजित्) अश्वानां जेता (धनञ्जयः) अ० ३ । १४ । २ । धनानां जेता (हिरण्यजित्) सुवर्णस्य जेता ॥

९—(अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारकुशलाः (फलवतीम्) उत्तमफलयुक्ताम् (द्युवम्) दीव्यतेर्भावे—क्विप् । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १९ । इत्यूठ् अमि उवङादेशः । व्यवहारशक्तिम् (दत्त) प्रयच्छत (गाम्) धेनुम् (क्षीरिणीम्) बहुदोग्ध्रीम् (इव) यथा (मा) माम् (कृतस्य) विहितस्य कर्मणः (धारया) प्रवाहेण (धनुः) चापम् (स्नाव्ना) स्नामदिपद्यर्ति० उ० ४ । ११३ । स्ना शौचे—वनिप् । वायुवाहिन्या नाड्या । स्नायुनिर्मितया मौर्व्या (इव) यथा (सम् नह्यत) संयोजयत ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

बृह॒स्पति॑र्नः॒ परि॑ पातु प॒श्चादु॒तोत्त॑रस्मा॒दध॑रादघा॒योः । इन्द्रः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नः॒ सखा॒ सखि॑भ्यो॒ वरी॑यः कृणोतु ॥ १ ॥

बृ॒ह॒स्पतिः॑ । नः॒ । परि॑ । पा॒तु॒ । प॒श्चात् । उ॒त । उत्ऽत॑रस्मात् । अध॑रात् । अ॒घ॒ऽयोः । इन्द्रः॑ । पु॒रस्ता॑त् । उ॒त । म॒ध्य॒तः । नः॒ । सखा॑ । सखि॑ऽभ्यः । वरी॑यः । कृ॒णो॒तु॒ ॥१॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बड़े शूरों का रक्षक सेनापति (नः) हमें (पश्चात्) पीछे, (उत्तरस्मात्) ऊपर (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतनेवाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियोंमें महाप्रतापी होकर दुष्टोंसे प्रजा की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ॥ १० । ४२ । ११ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

१—(बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां पालकः सेनापतिः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (पश्चात्) (उत) अपि च (उत्तरस्मात्) ऊर्ध्वाल्लोकात् (अधरात्) अधस्तनाल्लोकात् (अघायोः) अ० १ । २० । २ । पापेच्छुकात् । दुराचारिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (पुरस्तात्) अग्रे (उत) (मध्यतः) मध्यात् (नः) अस्मभ्यम् (सखा) सुहृत् (सखिभ्यः) मित्राणां हिताय (वरीयः) उरुतरं स्थानम् (कृणोतु) करोतु ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

परस्परैकमत्योपदेशः—आपस में एकता का उपदेश ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सम्-ज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सम्-ज्ञानम् । अरणेभिः । सम्-ज्ञानम् । अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वेभिः) अपनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) एक मत और (अरणेभिः) बाहिर वालों के साथ (संज्ञानम्) एकमत हो। (अश्विना) हे माता पिता! (युवम्) तुम दोनों (इह) यहां पर (अस्मासु) हम लोगों में (संज्ञानम्) एक मत (नि) निरन्तर (यच्छतम्) दान करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिकों से शिक्षा पाकर वेद द्वारा संसार में एकता फैलावें ॥ १ ॥

संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

सम् । जानामहै । मनसा । सम् । चिकित्वा । मा । युष्महि । मनसा । दैव्येन । मा । घोषाः । उत् । स्थुः । बहुले । वि-निर्हते ।

१—(संज्ञानम्) संगतं ज्ञानम् । ऐकमत्यम् (नः) अस्माकम् (स्वेभिः) स्वकीयैः पुरुषैः (अरणेभिः) अ० १ । १६ । ३ । विदेशिभिः (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । हे मातापितरौ (युवम्) युवाम् (इह) अस्मिन् संसारे (अस्मासु) (नि) निरन्तरम् (यच्छतम्) दत्तम् ॥

मा । इषुः । पुप्तत् । इन्द्रस्य । अहनि । आ-गते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) आत्मबल के साथ (सम् जानामहै) हम मिले रहें, (चिकित्वा) ज्ञान के साथ (सम्) मिले रहें, (दैव्येन) विद्वानों के हितकारी (मनसा) विज्ञान से (मा युष्महि) हम अलग न होवें। (बहुले) बहुत (विनिर्हते) विविध वध के कारण युद्ध होने पर (घोषाः) कोलाहल (मा उत् स्थुः) न उठें, (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्यवान् राजा का (इषुः) बाण (अहनि) दिन [न्याय दिन] (आगते) आने पर [हम पर] (मा पप्तत्) न गिरे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से एकमत रहने का प्रयत्न करें, और ऐसा काम न करें जिससे आपस में युद्ध होवे और पाप के कारण राजा के दण्डनीय होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-७ ॥ १-३ अग्निः; ४-६ प्राणापानौ; ७ सूर्यो देवता ॥

१-३ त्रिष्टुप्; ४ आस्तारपङ्क्तिः; ५-७ अनुष्टुप् ॥

विदुषां कर्त्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः । प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

२—(सम् जानामहै) समानज्ञाना भवाम (मनसा) आत्मबलेन (सम्) संजानामहै (चिकित्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कित ज्ञाने—क्वनिप् । छान्दसं द्विर्वचनम्, तृतीयाया डादेशः । चिकित्वना । ज्ञानेन(मा युष्महि) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङि लुङि सिचि रूपम् । मा वियुक्ता भूम (मनसा) विज्ञानेन (दैव्येन) देवहितेन (घोषाः) कोलाहलाः (मा उत् स्थुः) माङि लुङि रूपम् । उत्थिता मा भूवन् (बहुले) प्रचुरे (विनिर्हते) विविधं वधनिमित्ते युद्धे सति (इषुः) बाणः (मा पप्तत्) पत—लुङ् । मा पततु (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो राज्ञः (अहनि) दिने । न्यायदिने (आगते) प्राप्ते ॥

अमुत्र-भूयात् । अधि । यत् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभि-शस्तेः । अमुञ्चः । प्रति । औहताम् । अश्विना । मृत्युम् । अस्मत् । देवानाम् । अग्ने । भिषजा । शचीभिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्व व्यापक परमेश्वर ! (यत्) जिस कारण से (अमुत्रभूयात्) परलोक में होनेवाले भय से और (बृहस्पतेः) बड़ों के रक्षक (यमस्य) नियम कर्ता राजा के [सम्बन्धी] (अभिशस्तेः) अपराध से (अधि) अधिकारपूर्वक (अमुञ्चः) तू ने छुड़ाया है । (देवानाम्) विद्वानों में (भिषजा) वैद्यरूप (अश्विना) माता पिता [वा अध्यापक, उपदेशक] ने (मृत्युम्) मृत्यु [मरण के कारण दुःख] को (अस्मत्) हम से (शचीभिः) कर्मों द्वारा (प्रति) प्रतिकूल (औहताम्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ-परमेश्वर ने वेदद्वारा बताया है कि मनुष्य गुप्त मानसिक कुविचार छोड़कर परलोक में नरक पतन से, और प्रकट शारीरिक पाप छोड़कर राजा के दण्ड से बचकर आनन्दित रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७ ६ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् । शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ ।

१—(अमुत्रभूयात्) भुवो भावे । पा० ३ । १ । १०७ । अमुत्र+भू—क्यप् । परजन्मनि भाविनो भयात् । परलोकगमनान्मरणाद् वा (अधि) अधिकृत्य (यत्) यस्मात्कारणात् (यमस्य) नियन्तृ राज्ञः (बृहस्पतेः) महतां पालकस्य (अभिशस्तेः) अपराधात् (अमुञ्चः) लङि रूपम् । मोचितवानसि (प्रति) प्रतिकूलम् (औहताम्) उहिर् अर्दने—लङ् । नाशितवन्तौ (अश्विना) मातापितरौ । अध्यापकोपदेशकौ (मृत्युम्) मरणकारणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अग्ने) हे सर्व व्यापक परमेश्वर (भिषजा) अ० २ । ६ । ३ । भिषजौ वैद्यरूपौ (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ ॥

ते । स-युजौ । इह । स्ताम् । शतम् । जीव । शरदः ।
वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधि-पाः । वसिष्ठः ॥२॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (सं क्रामतम्) मिलकर चलो, (शरीरम्) इसके शरीर को (मा जहीतम्) मत छोड़ो । [हे मनुष्य !] वे दोनों (ते) तेरे लिये (सयुजौ) मिले हुये (इह) यहां पर (स्ताम्) रहें, (शतम् शरदः) सौ बरस तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) तू जीता रहे, (अग्निः) सर्व व्यापक परमेश्वर [वा जाठराग्नि] (ते) तेरा (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला और (वसिष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण, अपान और जाठराग्नि को सम रख सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें ॥२॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा तावि
ताम् । अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अति-हितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः ।
पुनः । आ । तौ । इताम् । अग्निः । तत् । आ । अहाः । निः-ऋतेः ।
उप-स्थात् । तत् । आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (आयुः) जीवने

२—(संक्रामतम्) संगतौ भवतम् (मा जहीतम्) ओहाक् त्यागे-लोट् । मा त्यजतम् (शरीरम्) देहम् (प्राणापानौ) प्राणितीति प्राणो नासिका विवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः, अपानितीति अपानो हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः, तौ (ते) तुभ्यम् (सयुजौ) संयुक्तौ (इह) अस्मिन् देहे (स्ताम्) भवताम् (शतम्) (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) सम्वत्सरान् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वाणः (अग्निः) परमेश्वरो जाठराग्निर्वा (गोपाः) अ० ५ । ३ । २ । गोपायिता । रक्षकः (अधिपाः) अधिकं पालकः (वसिष्ठः) अ० ४ । २६ । ३ । अतिश्रेष्ठः ॥

३—(आयुः) जीवनबलम् (यत्) (ते) तव (अतिहितम्) धा—क्त ।

सामर्थ्य (पराचैः) पराङ्मुख होकर (अतिहितम्) घट गया है, (तौ) वे दोनों (प्राणः) प्राण और (अपानः) अपान (पुनः) फिर (आ इताम्) आवें। (अग्निः) वैद्य वा शरीराग्नि (तत्) उस [आयु] को (निर्ऋतेः) महा विपत्ति के (उपस्थात्) पास से (आ अहाः) लाया है, (तत्) उसको (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पुनः) फिर (आ वेशयामि) प्रविष्ट करता हूं ॥३॥

भावार्थ—जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे, मनुष्य वैद्यों की सम्मति से जाठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें ॥ ३ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्। सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

मा। इमम्। प्राणः। हासीत्। मो इति। अपानः। अव-हाय। परा। गात्। सप्तर्षि-भ्यः। एनम्। परि। ददामि। ते। एनम्। स्वस्ति। जरसे। वहन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण (इमम्) इस [प्राणी] को (मा हासीत्) न छोड़े, (मो) और न (अपानः) अपान वायु (अवहाय) छोड़ कर (परा गात्) चला जावे। (एनम्) इस पुरुष को (सप्तर्षिभ्यः) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को

हानिं गतम् (पराचैः) पराङ्मुखम् (अपानः)—म० २ (प्राणः) (पुनः) (तौ) (आ इताम्) इण गतौ—लोट्। आगच्छताम् (अग्निः) वैद्यः शरीराग्निर्वा (तत्) आयुः (आ अहाः) अ० ६। १०३। २। हरतेर्लुङ्। अहार्षीत्। आनीतवान् (निर्ऋतेः) अ० २। १०। १। अलक्ष्म्याः। कृच्छ्रापत्तेः (उपस्थात्) समीपात् (तत्) आयुः (आत्मनि) शरीरे (पुनः) (आवेशयामि) प्रवेशयामि (ते) तव ॥

४—(इमम्) प्राणिनम् (प्राणः) श्वासः (मा हासीत्) ओहाक् त्यागे—लुङ्। मा त्यजतु (मो) नैव (अपानः) प्रश्वासः (अवहाय) ओहाक् त्यागे। प्रत्यज्य (परा गात्) दूरे गच्छेत् (सप्तर्षिभ्यः) अ० ४। ११। ९। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे—यजु० ३४। ५५। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिभ्यः

(परि ददामि) मैं समर्पण करता हूं, (ते) वे (एनम्) इसको (स्वस्ति) आनन्द के साथ (जरसे) स्तुति के लिये (वहन्तु) ले चलें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि से स्वस्थ रख कर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।

अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौ-इव । व्रजम् । अयम् । जरिम्णः । शेव-धिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (इव) जैसे (अनड्वाहौ) रथ ले चलने वाले दो बैल (व्रजम्) गोशाला में । (अयम्) यह जीव (जरिम्णः) स्तुति का (शेवधिः) निधि, (अरिष्टः) दुःखरहित होकर (इह) यहां पर (वर्धताम्) बढ़ती करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ५ ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।

आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

(एनम्) जीवम् (परि ददामि) समर्पयामि (ते) सन्तर्पयः (एनम्) (स्वस्ति) क्षेमेण (जरसे) अ० १ । ३० । २ । जॄ स्तुतौ—असुन् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । स्तुतये (वहन्तु) नयन्तु ॥

५—(प्र विशतम्) प्रवेशं कुरुतम् (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (अनड्वाहौ) अ० ४ । ११ । १ । अनस् + वह प्रापणे-क्विप्, अनसोडश्च । शकट-वहनशक्तौ बलीवर्दौ (इव) यथा (व्रजम्) गोष्ठम् (अयम्) जीवः (जरिम्णः) अ० २ । २८ । १ । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जरतेः—इमनिन् । स्तुत्यस्य कर्मणः (शेवधिः) अ० ५ । २२ । १४ । निधिः—निरु० २ । ४ । (अरिष्टः) अहिंसितः (इह) अस्मिँल्लोके (वर्धताम्) समृद्धो भवतु ॥

आयु॑ः । नः॒ । वि॒श्वतः॑ । द॒धत् । अ॒यम् । अ॒ग्निः । वरे॑ण्यः ॥६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम अच्छे प्रकार आगे बढ़ाते हैं, और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (परा सुवामि) मैं दूर निकालता हूं। (अयम्) यह (वरेण्यः) स्वीकरणीय (अग्निः) जाठराग्नि (नः) हमारे (आयुः) आयु को (विश्वतः) सब प्रकार (दधत्) पुष्ट करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक निर्बलता आदि रोगों को नाश करके अपना जीवन सब प्रकार सुफल करें ॥ ६ ॥

उद् व॒यं तम॑स॒स्परि॒ रोह॑न्तो॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ७ ॥

उत् । व॒यम् । तम॑सः । परि॑ । रोह॑न्तः । नाक॑म् । उ॒त्ऽत॒मम् ।
दे॒वम् । दे॒व॒ऽत्रा । सूर्य॑म् । अग॑न्म । ज्योतिः॑ । उ॒त्ऽत॒मम् ॥७॥

भाषार्थ—(तमसः) अन्धकार से (परि) पृथक् होकर (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुख में (उद् रोहन्तः) ऊपर चढ़ते हुये (वयम्) हमने (देवत्रा) प्रकाशमानों में (देवम्) प्रकाशमान, (उत्तमम्) उत्तम (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप, (सूर्यम्) सब के प्रेरक सूर्य जगदीश्वर को (अगन्म) पाया है॥७॥

६—(आ) समन्तात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (सुवामसि) षू प्रेरणे। वयं प्रेरयामः (परा) दूरे (यक्ष्मम्) राजरोगम् (सुवामि) प्रेरयामि (ते) तव (आयुः) जीवनम् (नः) अस्माकम् (विश्वतः) सर्वतः (दधत्) दधातेर्लेटि, अडागमः। पोषयेत् (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (वरेण्यः) अ० ७ । १४ । ४ । स्वीकरणीयः। सम्भजनीयः ॥

७—(उत्) उत्कर्षेण (वयम्) योगिनः (तमसः) अन्धकारात् (परि) पृथग्भूय (रोहन्तः) आरूढाः सन्तः (नाकम्) दुःखरहितं मोक्षसुखम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् (देवम्) प्रकाशमानम् (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरु० । पा० ५ । ४ । ५६ । सप्तम्यर्थे-त्रा । प्रकाशमानेषु (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकं परमात्मानम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (ज्योतिः) ज्योतीरूपं द्योतमानम् (उत्तमम्) ॥

भावार्थ—विद्वान् योगीजन विद्या के प्रकाश से मुक्ति सुख को भोगते हुये ज्योतिस्वरूप परमात्मा में निरन्तर विचरते हैं ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २१, २७। १०, ३५।१४, ३८।२४॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-२ ॥ शचीपतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याग्रहणोपदेशः—वेद विद्या के ग्रहण का उपदेश ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।
एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥१॥

भाषार्थ—(ऋचम्) स्तुति विद्या [ईश्वर से लेकर समस्त पदार्थों के ज्ञान], (साम) दुःख नाशक मोक्ष विद्या का (यजामहे) हम सत्कार करते हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) वे [सब प्राणी] करते हैं। (एते) यह दोनों (सदसि) [संसार रूपी] बैठक में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों के बीच (यज्ञम्) सङ्गति (यच्छतः) दान करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित होवें ॥ १ ॥

१—(ऋचम्) ऋच स्तुतौ—क्विप्। ऋग् वाङ्नाम—निघ० १। ११। ऋग् अर्चनी—निरु० १३। ८। स्तुतिविद्याम्। ईश्वरमारभ्य समस्तपदार्थज्ञानम्। (साम) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ। उ० ४। १५३। षो अन्तकर्मणि—मनिन्। साम सम्मितमृचास्यतेर्वर्चा सम मेन इति नैदानाः—निरु० ७। १२। दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (याभ्याम्) ऋक्सामाभ्याम् (कर्माणि) कर्तव्यानि (कुर्वते) कुर्वन्ति प्राणिनः (एते) ऋक्सामे (सदसि) संसाररूपे समाजे (राजतः) दीप्येते (यज्ञम्) सङ्गतिकरणम् (देवेषु) विद्वत्सु (यच्छतः) दत्तः ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हुविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्षम् । हुविः । ओजः । यजुः । बलम् । एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शची-पते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये (ऋचम्) पदार्थों की स्तुतिविद्या, (साम) दुःखनाशक मोक्षविद्या और (यजुः) विद्वानों के सत्कार, विद्यादान और पदार्थों के सङ्गति करण द्वारा (हविः) ग्राह्यकर्म, (ओजः) मानसिक बल और (बलम्) शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) मैंने पूंछा है [विचारा है]। (तस्मात्) इसलिये, (शचीपते) हे वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक आचार्य ! (एषः) यह (पृष्टः) पूछा हुआ (वेदः) वेद (मा) मुझको (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विचार पूर्वक वेदों का अध्ययन करके उत्तम कर्म से मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाकर आनन्दित होवे ॥२॥

सूक्तम् ५५ ॥

१ ॥ वसुर्देवता ॥ विराडुष्णिक् छन्दः ॥

२—(ऋचम्) म० १ । पदार्थस्तुतिविद्याम् (साम) म० १ । दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (यत्) यस्मात्कारणात् (अप्राक्षम्) प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—लुङ्, द्विकर्मकः । प्रश्नेन विचारितवानस्मि (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओजः) मानसं बलम् (यजुः) अर्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—उसि । यजुर्यजतेः—निरु० ७ । १२ । विदुषां सत्कारं विद्यादानं पदार्थसङ्गतिकरणं च (बलम्) शरीरबलम् (एषः) प्रसिद्धः (मा हिंसीत्) मा दुःखयेत् (तस्मात्) कारणात् (मा) माम् (वेदः) अ० ७ । २८ । १ । ईश्वरोक्तज्ञानम् (पृष्टः) विचारितः । अधीतः (शचीपते) शची=वाक्—निघ० १ । ११ ; कर्म २ । १ ; प्रज्ञा ३ । ९ । हे वाचः कर्मणः प्रज्ञायाः पालक ॥

वेदमार्गग्रहणोपदेशः—वेदमार्ग के ग्रहण का उपदेश ॥

ये ते॒ पन्था॑नोऽव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।
तेभिः॑ सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ १ ॥

ये । ते॒ । पन्था॑नः । अव॑ । दि॒वः । येभिः॑ । विश्व॑म् । ऐर॑यः ।
तेभिः॑ । सु॒म्न॒-या । आ । धे॒हि॒ । नः॒ । व॒सो॒ इति॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (ये) जो (ते) तेरे (दिवः) प्रकाश के (पन्थानः) मार्ग (अव) निश्चय करके हैं, (येभिः) जिनके द्वारा (विश्वम्) संसार को (ऐरयः) तूने चलाया है। (तेभिः) उनसे ही (सुम्नया) सुख के साथ (नः) हमें (आ धेहि) सब ओर से पुष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के वेदमार्ग पर चलकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पुष्टि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १-३,५-८ अनुष्टुप्; ४ बृहती ॥

विषहरणोपदेशः—विष नाश का उपदेशः ॥

ति॒रश्चि॑राजेरसि॒तात् पृदा॑कोः॒ परि॒ संभृ॑तम् ।
तत् क॒ङ्कप॑र्वणो वि॒षमि॒यं वी॒रुद॑नीनशत् ॥ १ ॥

तिर॑श्चि-राजेः । अ॒सि॒तात् । पृदा॑कोः । परि॑ । सम्-भृ॑तम् ।
तत् । क॒ङ्क-प॑र्वणः । वि॒षम् । इ॒यम् । वी॒रुत् । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ १ ॥

१—(ये) (ते) तव (पन्थानः) वेदमार्गाः (अव) निश्चयेन (दिवः) प्रकाशस्य (येभिः) यैः (विश्वम्) जगत् (ऐरयः) ईर गतौ—लङ्। प्रेरितवानसि (तेभिः) तैः पथिभिः (सुम्नया) आतश्चोपसर्गे। पा० ३। १। १३६। इति सु+म्ना अभ्यासे—क। विभक्तेर्याजादेशः। सुम्नं सुखम्—निघ० ३। ६। सुम्नेन सुखेन (आ) समन्तात् (धेहि) पोषय (नः) अस्मान् (वसो) हे श्रेष्ठपरमात्मन् ॥

भाषार्थ—(इयम्) इस (वीरुत्) जड़ी-बूटी ने (तिरश्चिराजेः) तिरछी रेखाओं वाले, (असितात्) कृष्णवर्ण वाले, (कङ्कपर्वणः) काक वा चिल्ह पत्ती के समान जोड़ वाले (पृदाकोः) फुसकारते हुये साँप से (सम्भृतम्) पाये हुये (तत्) उस (विषम्) विष को (परि) सब प्रकार (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा सर्प आदि के विष को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् विद्या द्वारा मानसिक दोषों का नाश करे ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुश्चुत् । मधुला । मधूः ।
सा । वि-ह्रुतस्य । भेषजी । अथो इति । मशक-जम्भनी ॥२

भाषार्थ—(इयम्) यह [ब्रह्मविद्या] (वीरुत्) जड़ी बूटी (मधुजाता) मधुरपन से उत्पन्न हुई, (मधुश्चुत्) मधुरपन टपकानेवाली (मधुला) मधुरपन देने वाली और (मधूः) मधुर स्वभाव वाली है। (सा) वही (विह्रुतस्य) बड़े कुटिल विष की (भेषजी) ओषधि (अथो) और (मशकजम्भनी) मच्छरों

१—(तिरश्चिराजेः) अ० ३ । २७ । २ । तिर्यग्रेखायुक्तात् (असितात्) अ० ३ । २७ । १ । कृष्णवर्णात् (पृदाकोः) अ० ३ । २७ । ३ । कुत्सितशब्दकारिणः सर्पात् (परि) सर्वतः (सम्भृतम्) प्राप्तम् (तत्) (कङ्कपर्वणः) ककि गतौ—अच्+पॄ पालनपूरणयोः—वनिप् । लोहपृष्ठस्तु कङ्कः स्यात्—अमर० १५ । १६ । कङ्कपक्षिसदृशपर्वाणि सन्धयो यस्य तस्मात् (विषम्) हलाहलम् (इयम्) (वीरुत्) ओषधिः (अनीनशत्)अ० १।२४।२। नाशितवती ॥

२—(इयम्) ब्रह्मविद्या (वीरुत्) ओषधिः (मधुजाता) माधुर्याद् निष्पन्ना (मधुश्चुत्) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । मधुररसस्य क्षरणशीला (मधुला) ला दाने-क । माधुर्यदात्री (मधूः) मधुरस्वभावा (सा) वीरुत् (विह्रुतस्य) विशेषकुटिलस्य विषस्य (भेषजी) ओषधिः (अथो) अपि च (मशकजम्भनी)

[मच्छर के समान गुणों] की नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से बड़े बड़े विष और क्लेश नाश होते हैं, वैसेही मनुष्य ब्रह्म विद्या द्वारा अपने दोषों का नाश करे ॥ २ ॥

यतो॑ द॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॑स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।

अ॒र्भस्य॑ तृप्रद॒ंशिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । द॒ष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । निः । ह्व॒याम॒सि॒ ।
अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्र-द॒ंशिनः॑ । म॒शक॑स्य । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यतः) जहां पर (दष्टम्) काटा गया है और (यतः) जहां पर (धीतम्) [रुधिर] पिया गया है, (ते) तेरे (ततः) उसी [अङ्ग] से (अर्भस्य) छोटे (तृप्रदंशिनः) तीव्र काटनेवाले (मशकस्य) मच्छर के (अरसम्) निर्बल [किये हुये] (विषम्) विष को (निः) निकालकर (ह्वयामसि) हम वचन देते हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सुपरीक्षित ओषधियों से प्रयत्न पूर्वक विष आदि रोग नाश करें ॥ ३ ॥

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो॒ मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ । तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥४

अ॒यम् । यः । व॒क्रः । वि-प॑रुः । वि-अ॑ङ्गः॒ । मुखा॑नि । व॒क्रा । वृ॒जि॒ना । कृ॒णोषि॑ । तानि॑ । त्वम् । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । इ॒षी॒काम्-इ॑व । सम् । न॒मः॒ ॥ ४ ॥

जभि नाशने—ल्युट् । मशकानां मशकस्वभावानां नाशयित्री ॥

३—(यतः) सप्तम्यर्थे तसिः । यस्मिन् देशे (दष्टम्) हिंसितम् (यतः) यस्मिन्नङ्गे (धीतम्) धेट् पाने—क्त । रुधिरं पीतम् (ततः) तस्मादङ्गात् (ते) तव (निः) निःसार्य (ह्वयामसि) कथयामः (अर्भस्य) अल्पस्य (तृप्रदंशिनः) तृप संदीपने प्रीणने च—रक्+दंश दंशने—णिनि । तीव्रदंशनशीलस्य (मशकस्य) मश ध्वनौ कोपे च—वुन् । कीटभेदस्य (अरसम्) निर्बलं कृतम् (विषम्) ॥

भाषार्थ—(अयम् यः) यह जो [विषरोगी] (वक्रः) टेढ़े शरीरवाला (विपरुः) विकृत जोड़ों वाला (व्यङ्गः) ढीले अङ्गों [हाथ पैरों] वाला (मुखानि) अपने मुख के अवयवों [दांत नाक नेत्र आदि] को (वक्रा) टेढ़ा और (वृजिना) ऐंठे मरोड़े (कृणोषि=कृणोति) करता है। (ब्रह्मणः पते) हे बड़े ज्ञान के स्वामी [वैद्यराज !] (त्वम्) तू (तानि) उन [अङ्गों] को (सम् नमः) मिलाकर ठीक करदे (इव) जैसे (इषीकाम्) कांस वा मूंजको [रसरी के लिये] ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विष रोगी को औषध आदि से शीघ्र स्वस्थ करें॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उप-सर्पतः । विषम् । हि । अस्य । आ-अदिषि । अथो इति । एनम् । अजीजभम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-(अस्य) इस (अरसस्य) निर्बल [तुच्छ वा काटनेवाले], (नीचीनस्य) नीचे पड़े हुये, (उपसर्पतः) रेंगते हुये, (शर्कोटस्य) कोटकर टेढ़ा कर देनेवाले [बीछू आदि] के (विषम्) विष को (हि) निश्चय करके (आ-अदिषि)

४—(अयम्) (यः) विषरोगी (वक्रः) कुटिलावयवः (विपरुः) विश्लिष्टपर्वा विकृतसन्धिः (व्यङ्गः) विकृताङ्गः (मुखानि) मुखावयवान् (वक्रा) कुटिलानि (वृजिना) अ० १ । १० । ३ । क्लिष्टानि (कृणोषि) प्रथमस्य मध्यमपुरुषः । कृणोति । करोति (तानि) अङ्गानि (त्वम्) (ब्रह्मणस्पते) प्रवृद्धस्य ज्ञानस्य रक्षक वैद्यराज (इषीकाम्) ईषेः किद् ह्रस्वश्च । उ० ४ । २१ । ईष हिंसने—ईकन्, टाप् । काशं मुञ्जं वा (इव) यथा (सम्) संगत्य (नमः) णम प्रह्वत्वे शब्दे च—लेटि, अडागमः । सं नमय । ऋजूकुरु ॥

५—(अरसस्य) निर्बलस्य तुच्छस्य । यद्वा । अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । ऋ हिंसायाम्—असच् । हिंसकस्य (शर्कोटस्य) अन्येभ्योपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायां-विच्+कुट कौटिल्ये—घञ् । शरा हिंसनेन कुटिलीकरस्य (नीचीनस्य) नीच—ख । नीचदेशे भवस्य (उपसर्पतः) समीपं गच्छतः (विषम्) (हि) अवश्यम् (आ—अदिषि) दो खण्डने लुङ्, आत्मने

मैंने खण्डित करदिया है (अथो) और (एनम्) इस [जन्तु] को (अजीजभम्) मैंने कुचिल डाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बीछू आदि के विष को हटाकर उस विषैले जन्तु को भी मार डालें जिससे वह औरों को न सतावे ॥ ५ ॥

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नोत म॑ध्य॒तः ।

अथ॒ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

न । ते॒ । बा॒ह्वोः । बल॑म् । अ॒स्ति॒ । न । शी॒र्षे । न । उ॒त । म॒ध्य॒तः ।

अथ॑ । किम् । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या । पुच्छे॑ । बि॒भ॒र्षि॒ । अ॒र्भ॒कम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (न) न तो (ते) तेरे (बाह्वोः) दोनों भुजाओं में (बलम्) बल (अस्ति) है, (न) न (शीर्षे) शिर में (उत) और (न) न (मध्यतः) बीच में है। (अथ) फिर (किम्) क्यों (अमुया पापया) उस पाप बुद्धि से (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) थोड़ा सा [विष] (बिभर्षि) तू रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे बीछू सामने से निर्विष होता है और पीछे से चढ़ डंक मारता है, मनुष्यों को ऐसी कुटिलता छोड़ कर सर्वथा सरल स्वभाव होना चाहिये ॥ ६ ॥

अ॒दन्ति॑ त्वा पि॒पीलि॑का॒ वि वृ॑श्चन्ति मयू॒र्यः॑ ।

सर्वे॑ भल ब्रवाथ॒ शार्कोटमर॒सं वि॒षम् ॥ ७ ॥

अ॒दन्ति॑ । त्वा॒ । पि॒पीलि॑काः । वि । वृ॒श्च॒न्ति॒ । म॒यू॒र्यः॑ ।

पदं छान्दसम्। सर्वतः खण्डितवानस्मि (अथो) अपि च (एनम्) जन्तुम् (अजीजभम्) जभि हिंसने। अनीनशम् ॥

६—(न) निषेधे (ते) तव (बाह्वोः) हस्तयोः (बलम्) सामर्थ्यम् (अस्ति) (न) (शीर्षे) शिरसि (न) (उत) अपि (मध्यतः) सप्तम्यर्थे तसिः। मध्ये। कटिभागे (अथ) पुनः (किम्) किमर्थम् (पापया) पापिष्ठया बुद्ध्या (अमुया) अनया (पुच्छे) पुछ प्रमादे—अच्। लाङ्गले (बिभर्षि) धरसि (अर्भकम्) अल्पे। पा० ५। ३। ८५। अल्पार्थे कन्। अत्यल्पं विषम् ॥

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू वा सर्प !] (त्वा) तुझको (पिपीलिकाः) चिउंटियें (अदन्ति) खा जाती हैं और (मयूर्यः) मोरनियें (वि वृश्चन्ति) काट डालती हैं। [हे मनुष्यो !] (सर्वे) तुम सब (शार्कोटम्) बीछू वा सर्प के (विषम्) विष के (अरसम्) निर्बल (भल) भली भांति (ब्रवाथ) बतलाओ॥

भावार्थ—जैसे चिउंटी, मोर मोरनी आदि विषैले जीवों का आहार कर जाते हैं, वैसेही मनुष्य ओषधि द्वारा विष को निर्बल करके हटावे ॥ ७ ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्र-हरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च । आस्ये । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छ-धौ । असत् ॥८॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (यः) जो तू (उभाभ्याम्) दोनों (पुच्छेन) पूंछ से (च च) और (आस्येन) मुख से (प्रहरसि) चोट मारता है। (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषम्) विष (न) नहीं है, (उ) तौ, (ते) (पुच्छधौ) पूंछ की थैली में (किम्) क्या (असत्) होवे ॥ ८ ॥

७—(अदन्ति) भक्षयन्ति (त्वा) त्वां वृश्चिकं सर्पं वा (पिपीलिकाः) अपि+पील रोधने—एवुल्, अल्लोपः, टापि, अत इत्वम्। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः—निरु० ७। १३। क्षुद्रजन्तुविशेषाः (वि) विशेषेण (वृश्चन्ति) छिन्दन्ति (मयूर्यः) मीनातेरूरन्। उ० १। ६७। मीञ् हिंसायाम्—ऊरन्, ङीप्। मयूरस्त्रियः (सर्वे) यूयं सर्वे विषनिर्हारकाः। (भल) भल परिभाषणहिंसादानेषु—पचाद्यच्। साधु (ब्रवाथ) लेटि आडागमः। ब्रूत (शार्कोटम्) शर्कोट—म० ५, अण्। शर्कोटस्य वृश्चिकस्य सर्पस्य वा सम्बन्धि (अरसम्) निर्बलम् (विषम्) ॥

८—(यः) (उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (प्रहरसि) बाधसे (पुच्छेन) म०६। लाङ्गलेन (आस्येन) मुखेन (च च) समुच्चये (आस्ये) मुखे (न) निषेधे (ते) तव (विषम्) (किम् असत्) किं स्यात्, न भवेदित्यर्थः (ते) तव (पुच्छधौ) पुच्छ+डुधाञ्—कि। पुच्छधान्याम् ॥

भावार्थ—बीछू के मुख में तो विष नहीं होता, उसकी पूंछ के विष को भी विद्वान् लोग ओषधि द्वारा नाश करें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-२ ॥ सरस्वती देवता ॥ जगती छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

यदा॒शसा॒ वद॑तो मे विचुक्षु॒भे यद्या॒च॑मानस्य॒ चर॑तो॒ जनाँ॒ अनु॑ । यदा॒त्मनि॑ त॒न्वो॑ मे॒ विरि॑ष्टं॒ सर॑स्वती॒ तदा पृ॑णद्घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

यत् । आ॒-श॒सा । वद॑तः । मे॒ । वि॒-चु॒क्षु॒भे । यत् । या॒च॑मानस्य । चर॑तः । जना॑न् । अनु॑ । यत् । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वः॑ । मे॒ । वि-रि॑ष्टम् । सर॑स्वती । तत् । आ । पृ॒ण॒त् । घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वदतः मे) मुझ बोलने वाले का (यत्) जो [मन] (आशसा) किसी हिंसा से (विचुक्षुभे) व्याकुल होगया है, [अथवा] (जनान् अनु) मनुष्यों के पास (चरतः) चलकर (याचमानस्य) मुझ मांगने वाले का (यत्) जो [मन व्याकुल होगया है] । [अथवा] (मे तन्वः) मेरे शरीर के (आत्मनि) आत्मा में (यत् विरिष्टम्) जो कष्ट है, (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (तत्) उसको (घृतेन) प्रकाश वा सारतत्त्व से (आ) भली भांति (पृणत्) भर देवे ॥ १ ॥

१—(यत्) मनः (आशसा) शसु हिंसायाम् क्विप् । आशसनेन । आशा— भङ्गेन (वदतः) भाषमाणस्य (मे) मम (विचुक्षुभे) विशेषेण क्षुभितं व्याकुलं बभूव (यत्) मनः (याचमानस्य) प्रार्थयमानस्य (चरतः) गच्छतः (जनान् अनु) जनान् प्रति (यत्) (आत्मनि) स्वस्मिन् (तन्वः) शरीरस्थ (मे) मम (विरिष्टम्) रिष हिंसायाम्—क्त । विशेषेण क्लिष्टम् (तत्) दुःखम् (सरस्वती) वाक्—निघ० १ । ११ । विज्ञानवती विद्या (तत्) (आ) समन्तात् (पृणत्) पृण प्रीणने—लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुये क्लेशों को विद्या द्वारा नाश करें ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि । उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि । अवीवृतन् । ऋतानि । उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य । राजतः । उभे इति । यतेते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सप्त) सात [इन्द्रियां अर्थात् दो कान, दो नथुने, दो आंख, एक मुख] (मरुत्वते) सुवर्ण वाले (शिशवे) दुःखनाशक बालक [वा प्रशंसनीय वा उदार विद्वान्] के लिये [सुख से] (क्षरन्ति) बरसती हैं, (अपि) और (पुत्रासः) पुत्रों [पुत्र समान हितकारी पुरुषों] ने (पित्रे) उस पिता [पिता तुल्य माननीय] के लिये (ऋतानि) सत्य धर्मों को (अवीवृतन्) प्रवृत्त किया है। (उभे) दोनों [वर्तमान और भविष्यत् जन्म वा अवस्था] (इत्) ही (अस्य) इस [विद्वान्] के होते हैं, (अस्य) इसके (उभे) दोनों

२—(सप्त) सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ९ । कः सप्त खानि वितदर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ० । १० । २ । ६ । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (क्षरन्ति) सुखं वर्षन्ति (शिशवे) शः कित् सन्वच । उ० । १ । २० । शो तनूकरणे—उ । शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः-निरु० १० । ३९ । दुःखस्य अल्पीकर्त्रे नाशयित्रे बालकाय दात्रे विदुषे वा (मरुत्वते) मरुत्=हिरण्यम्—निघ० १ । २ । सुवर्णवते (पित्रे) पितृतुल्यमाननीयाय विदुषे (पुत्रासः) पुत्रवदुपकारिणः पुरुषाः (अपि) च (अवीवृतन्) वर्ततेर्ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम् । प्रवर्तितवन्तः (ऋतानि) सत्यधर्माणि (उभे) उभ पूरणे-क । उभौ समुब्धौ भवतः—निरु० ४।४। उभे निपासि जन्मनी—यजु० ८ । ३ । द्वे वर्तमानभविष्यती जन्मनी अवस्थे वा (इत्) एव (अस्य) शिशोर्विदुषः पुरुषस्य (उभे) (अस्य) (राजतः) राजतिः=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्य-

(राजतः) ऐश्वर्यवान् होते हैं, (उभे) दोनों (यतेते) प्रयत्नशाली होते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इसका (पुष्यतः) पोषण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—धनी, परोपकारी, विद्वान् पुरुष इस जन्म और परजन्म और वर्तमान और भविष्यत् काल में पूर्ण सुख भोगते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में कुछ भेद से है—१० । १३ । ५ ।

सूक्तम् ५८ ॥

१-२ ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाजनकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा जन के कर्त्तव्य का उपदेश है ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥

इन्द्रावरुणा । सुत-पौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिबतम् । मद्यम् । धृत-व्रतौ । युवोः । रथः । अध्वरः । देव-वीतये । प्रति । स्वसरम् । उप । यातु । पीतये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुतपौ) हे पुत्रों के रक्षा करने वाले ! (धृतव्रतौ) उत्तम कर्मों के धारण करने वाले ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान वर्त्तमान राजा और प्रजाजन (इमम् सुतम्) इस पुत्र को (मद्यम्) आनन्द-दायक (सोमम्) ऐश्वर्य [वा बड़ी बड़ी ओषधियों का रस] (पिबतम्=पाययतम्) पान कराओ, (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) मार्ग बताने वाला (रथः) विमान आदि यान (देववीतये) दिव्य पदार्थों की प्राप्ति के

युक्ते भवतः (यतेते) यती प्रयत्ने । प्रयत्नं कुरुतः (पुष्यतः) पोषणं कुरुतः ॥

१—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (सुतपौ) पुत्रपालकौ (इमम्) प्रत्यक्षम् (सुतम्) पुत्रम् (सोमम्) ऐश्वर्यम् । महौषधि-रसं वा (पिबतम्) अन्तर्गतण्यर्थः । पाययतम् (मद्यम्) आनन्दकम् (धृतव्रतौ) धृतकर्माणौ (युवोः) युवयोः (रथः) विमानादियानम् (अध्वरः) अध्वन्+रा दाने-क । मार्गप्रदः (देववीतये) दिव्यपदार्थप्राप्तये (प्रति) वीप्सायाम् (स्वसरम्) दिनम्—निघ० १ । ६ । गृहम्—निघ० ३ । ४ (उप) समीपे

लिये और (पीतये) वृद्धि के लिये (प्रति स्वसरम्) प्रतिदिन वा प्रतिघर (उप यातु) आया करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजागणों को चाहिये कि परस्पर रक्षक होकर परस्पर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—६ । ६८ । १०,११ ॥

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृषणा॒ वृषे॑थाम्। इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम् ॥ २ ॥

इन्द्रा॑वरुणा । मधु॑मत्-तमस्य । वृष्णः॑ । सोम॑स्य । वृ॒ष॒णा॒ । आ । वृ॒षे॒था॒म् । इ॒दम् । वा॒म् । अन्धः॑ । परि॑-सिक्तम् । आ॒-सद्य॑ । अ॒स्मिन् । ब॒र्हिषि॑ । मा॒द॒ये॒था॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे वलिष्ठ ! (इन्द्रावरुणा) विजुली और वायु के समान राजा और प्रजाजनो तुम (मधुमत्तमस्य) अत्यन्तज्ञानयुक्त, (वृष्णः) वल करने वाले (सोमस्य) ऐश्वर्य की (वृषेथाम्) वरसा करो। (वाम्) तुम दोनों का (इदम्) यह (परिषिक्तम्) सव प्रकार सींचा हुआ (अन्धः) अन्न है, (अस्मिन्) इस (वर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) आनन्दित करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा और प्रजागण सव की उन्नति के लिये पुरुषार्थ करते हैं, वे ही सत्कार योग्य होते हैं ॥ २ ॥

(यातु) गच्छतु (पीतये) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति वाहुलकात् प्यैङ् वृद्धौ—क्तिनि प्रत्यये सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । वृद्धये ॥

२—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (मधुमत्तमस्य) अतिशयेन ज्ञानयुक्तस्य (वृष्णः) वलकरस्य (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (वृषणा) वलिष्ठौ (वृषेथाम्) वर्षणं कुरुतम् (इदम्) (वाम्) युवयोः (अन्धः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । (परिषिक्तम्) सर्वतः सिक्तम् (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (वर्हिषि) वृद्धिकर्मणि (मादयेथाम्) आनन्दयतम् ॥

सूक्तम् ५९ ॥

१ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृक्षः-इव । वि-द्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (विद्युता) बिजुली से (हतः) मारे गये (वृक्षः इव) वृक्ष के समान वह (आ मूलात्) जड़ से लेकर (अनु) निरन्तर (शुष्यतु) सूख जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अ० ६ । ३७ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-७ ॥ गृहपतिर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-७ अनुष्टुप् ॥

१—(यः) दुष्टः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । निन्देत् (अशपतः) अशापिनः (शपतः) शापकारिणः (यः) (च) (नः) (शपात्) (वृक्षः) (इव) (विद्युता) अशन्या (हतः) भस्मीकृतः (आ मूलात्) मूलमारभ्य (अनु) निरन्तरम् (शुष्यतु) शुष्को भवतु ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

ऊर्जम् । बिभ्रत् । वसु-वनिः । सु-मेधाः । अघोरेण । चक्षुषा । मित्रियेण । गृहान् । आ । एमि । सु-मनाः । वन्दमानः । रमध्वम् । मा । बिभीत । मत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जम्) पराक्रम (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (वसुवनिः) धन उपार्जन करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला, (अघोरेण) अभयानक, (मित्रियेण) मित्र के (चक्षुषा) नेत्र से [देखता हुआ] (सुमनाः) सुन्दर मन वाला, (वन्दमानः) [तुम्हारे] गुण बखानता हुआ मैं (गृहान्) घर के लोगों में (आ एमि) आता हूं । (रमध्वम्) तुम प्रसन्न होओ, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) भय मत करो ॥१॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष शरीर और आत्मा का बल और धन आदि पदार्थ प्राप्त करके बड़ी प्रीति से प्रसन्नचित्त रह कर गृहस्थाश्रम को सिद्ध करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ । ४१ ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

१—(ऊर्जम्) पराक्रमम् (बिभ्रत्) धारयन् (वसुवनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । वसु + वन सम्भक्तौ-इन् । वसुनो धनस्य सम्भक्ता, उपार्जकः (सुमेधाः) अ० ५ । ११ । ११ । सुबुद्धियुक्तः (अघोरेण) अभयानकेन (चक्षुषा) नेत्रेण पश्यन्निति शेषः (मित्रियेण) अ० २ । २८ । १ । मित्र-घ । मित्रसम्बन्धिना (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (एमि) आगच्छामि (सुमनाः) शोभनज्ञानः (वन्दमानः) युष्मान् स्तुवन् (मा विभीत) भयं मा प्राप्नुत (मत्) मत्तः ॥

इमे । गृहाः । मयः-भुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः । पूर्णाः ।
वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह (गृहाः) घर के लोग (मयोभुवः) आनन्द देने वाले, (ऊर्जस्वन्तः) बड़े पराक्रमी, (पयस्वन्तः) उत्तम जल, दुग्ध आदि वाले, (वामेन) उत्तम धन से (पूर्णाः) भरपूर (तिष्ठन्तः) खड़े हुये हैं। (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हमको (जानन्तु) जानें ॥ २ ॥

भावार्थ—घर के लोग बाहिर से आये हुये गृहस्थों और अतिथियों का यथावत् सत्कार करें ॥२॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधि-एति । प्र-वसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।
गृहान् । उप । ह्वयामहे । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवसन्) परदेश वसता हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन [गृहस्थों] का (अध्येति) स्मरण करता है, और (येषु) जिन में (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रीतिभाव है, (गृहान्) उन घर वालों को (उप ह्वयामहे) हम प्रीति से बुलाते हैं, (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हम को (जानन्तु) जानें ॥ ३ ॥

२—(इमे) (गृहाः) गृहस्थाः (मयोभुवः) अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयितारः (ऊर्जस्वन्तः) अ० ३ । १२ । २ । प्रभूतपराक्रमिणः (पयस्वन्तः) उत्तमजलदुग्धादिसमृद्धाः (पूर्णाः) समृद्धाः (वामेन) प्रशस्येन धनेन । वामः प्रशस्यः—निघ० ३ । ८ (तिष्ठन्तः) (ते) गृहाः (जानन्तु) अवबुध्यन्ताम् (आयतः) इण् गतौ–शतृ । आगच्छतः ॥

३—(येषाम्) गृहस्थानाम् (अध्येति) इक् स्मरणे । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । स्मरणं करोति (प्रवसन्) देशान्तरे वसन् पुरुषः (येषु) गृहेषु (सौमनसः) अ० ३ । ३० । ७ । सुप्रीतिभावः (बहुः) अधिकः (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (उप) सत्कारेण (ह्वयामहे) आह्वयामः । अन्यत् पूर्ववत्–म० २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परदेश गया हुआ पुरुष प्रीति से घर वालों का स्मरण करता रहता है, वैसे ही घर वाले प्रीति से उसका स्मरण रक्खें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-३। ४२ और संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वादुसं॑मुदः ।
अक्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ४ ॥

उप॑-हूताः । भूरि॑-धनाः । सखा॑यः । स्वा॒दु-सं॑मुदः । अ॒क्षु॒ध्याः । अ॒तृ॒ष्याः । स्त॒ । गृहाः॑ । मा । अ॒स्मत् । बि॒भी॒त॒न॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(भूरिधनाः) बड़े धनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादिष्ट पदार्थों से आनन्द करने वाले (सखायः) मित्र लोग (उपहूताः) स्वागत किये गये हैं। (गृहाः) हे घर के लोगो ! (अक्षुध्याः, अतृष्याः, स्त) तुम भूखे प्यासे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) मत भय करो ॥४॥

भावार्थ—बाहिर से आये हुये और घर वाले सब पुरुष प्रसन्न हो कर परस्पर आनन्द करें ॥ ४ ॥

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒ला॒ल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥

उप॑-हूताः । इ॒ह । गावः॑ । उप॑-हूताः । अ॒ज-अ॒वयः॑ । अथो॒ इति॑ । अन्न॑स्य । की॒लालः॑ । उप॑-हूतः । गृ॒हेषु॑ । नः॒ ॥ ५ ॥

४—(उपहूताः) सत्कारेण प्रार्थिताः (भूरिधनाः) प्रभूतधनाः (सखायः) सुहृदः (स्वादुसंमुदः) स्वादुभी रोचकैः पदार्थैः संमोदमानाः (अक्षुध्याः) तदर्हति। पा० ५।१।६३। इत्यर्थे। छन्दसि च। पा० ५।१।६७। क्षुध्—यप्रत्ययः। क्षुधं बुभुक्षामर्हन्तीति क्षुध्याः, न क्षुध्या अक्षुध्याः। क्षुधारहिताः (अतृष्याः) पूर्ववत् तृष्—य प्रत्ययः। तृष्णारहिताः (स्त) भवत (गृहाः) गृहस्थाः (अस्मत्) अस्मत्तः (मा बिभीतन) ञि भी भये लोटि तस्य तनादेशः। भयं मा प्राप्नुत ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (गावः) गौयें (उपहूताः) आदर से बुलायी गयीं, और (अजावयः) भेड़ बकरी (उपहूताः) पास में बुलायी गयीं होवें। (अथो) और भी (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) रसीला पदार्थ (उपहूतः) पास लाया गया हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूध वाले गौ आदि पशु और भोजन के उत्तम पदार्थ संग्रह करके परस्पर रक्षा करें ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३। ४३। और संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

सूनृता-वन्तः । सु-भगाः । इरा-वन्तः । हसामुदाः । अतृष्याः । अक्षुध्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सूनृतावन्तः) प्रिय सत्य वचन वाले, (सुभगाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (इरावन्तः) उत्तम भोजन वाले, (हसामुदाः) हंस हंस कर प्रसन्न करने वाले, (गृहाः) हे घर के लोगो! तुम (अतृष्याः, अक्षुध्याः स्त) प्यासे भूखे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) मत भय करो ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य परस्पर सत्यभाषी, धर्मात्मा होते हैं, वे ही ऐश्वर्य बढ़ाकर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ६ ॥

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।

५—(उपहूताः) सत्कारेण समीपे वा प्राप्ताः (इह) गृहाश्रमे (गावः) गवादिदुग्धपशवः (उपहूताः) (अजावयः) अजाश्च अवयश्च (अथो) अपि (अन्नस्य) भोजनस्य (कीलालः) अ० ४। ११। १०। सारपदार्थः (उपहूतः) (गृहेषु) गेहेषु (नः) अस्माकम् ॥

६—(सूनृतावन्तः) अ० ३। १२। २। सत्यप्रियवाग्युक्ताः (सुभगाः) शोभनैश्वर्यवन्तः (इरावन्तः) अन्नवन्तः—निघ० २। ७ (हसामुदाः) हस हसने—क्विप्+मुद मोदे क, अन्तर्गतण्यर्थः। हासेन मोदयमानाः। अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

इह । एव । स्त । मा । अनु । गात । विश्वा । रूपाणि । पुष्यत ।
आ । एष्यामि । भद्रेण । सह । भूयांसः । भवत । मया ॥७॥

भाषार्थ—(इह एव) यहां ही (स्त) रहो, (अनु) पीछे पीछे (मा गात) मत चलो, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप वाली वस्तुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो। (भद्रेण सह) कुशल के साथ (आ एष्यामि) मैं आऊंगा, [फिर] (मया) मेरे साथ (भूयांसः) अधिक अधिक होकर (भवत) रहो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य परदेश जाने पर प्रतिज्ञा करके स्वदेशवृद्धि की चिन्ता रक्खे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्राप्त्युपदेशः—वेद विद्या प्राप्ति का उपदेश ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उप-तप्यामहे । तपः । प्रियाः ।
श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सु-मेधसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! (यत्) जिस कारण से (तपसा) तप [शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों के सहन] से (तपः) ऐश्वर्य के हेतु (तपः)

७—(इह) अत्र (एव) (स्त) भवत (अनु) मम पश्चात् (मा गात) इण् गतौ—माङि लुङि रूपम्। मा गच्छत (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि (पुष्यत) समर्धयत (ऐष्यामि) आगमिष्यामि (भद्रेण) कुशलेन (सह) सहितः (भूयांसः) अतिप्रभूताः (भवत) (मया) पुनरागतेन ॥

१—(यत्) यस्मात् कारणात् (अग्ने) विद्वन्। आचार्य (तपसा) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च-असुन्। श्रमेण। शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनेन (तपः) ऐश्वर्यकारणम् (उपतप्यामहे) यथावदनुतिष्ठामः (तपः) ब्रह्मचर्या-

तप [ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रत] को (उपतप्यामहे) हम ठीक ठीक काम में लाते हैं। [इसीसे] हम (श्रुतस्य) वेदशास्त्र के (प्रियाः) प्रीति करने वाले, (आयुष्मन्तः) प्रशंसनीय आयु वाले और (सुमेधसः) तीव्रबुद्धि (भूयास्म) होजावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य तप अर्थात् द्वन्द्वों का सहन और पूर्ण ब्रह्मचर्य का सेवन से वेद विद्या प्राप्त करके यशस्वी और तीव्रबुद्धि होकर संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑ ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धसः॑ ॥ २ ॥

अग्ने॑ । तपः॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । उप॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । तपः॑ । श्रु॒तानि॑ । शृ॒ण्वन्तः॑ । व॒यम् । आयु॑ष्मन्तः । सु॒ऽमे॒धसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य! हम (तपः) तप [द्वन्द्व सहन] (तप्यामहे) करते हैं, और (तपः) ब्रह्मचर्यादि व्रत (उप तप्यामहे) यथावत् साधते हैं। (श्रुतानि) वेदशास्त्रों को (शृण्वन्तः) सुनते हुये (वयम्) हम (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन वाले और (सुमेधसः) तीव्र बुद्धि वाले [हो जावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्वन्द्व सहन और ब्रह्मचर्य सेवन से वेदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके संसार में कीर्त्तिमान् होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रो-
हि॑तः । नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं

दिसत्यव्रतम् (प्रियाः) प्रीतिकर्तारः (श्रुतस्य) वेदशास्त्रस्य (भूयास्म) (आयुष्मन्तः) श्रेष्ठजीवनयुक्ताः (सुमेधसः) सुमेधावन्तः ॥

२—(तप्यामहे) साधयामः (श्रुतानि) वेदशास्त्राणि (शृण्वन्तः) श्रवणेन स्वीकुर्वन्तः। अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्-पतिः । वृद्ध-वृष्णः । रथी-इव । पत्तीन् । अजयत् । पुरः-हितः । नाभा । पृथिव्याम् । नि-हितः । दविद्युतत् । अधः-पदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक, (वृद्धवृष्णः) बड़े बल वाले, (पुरोहितः) सब के अगुआ (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति ने (रथी इव) रथ वाले योधा के समान (पत्तीन्) [शत्रु की] सेनाओं को (अजयत्) जीत लिया है। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (नाभा) नाभि में (निहितः) स्थापित किया हुआ (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान वह [उनको] (अधस्पदम्) पांव के तले (कृणुताम्) कर लेवे, (ये) जो (पृतन्यवः) सेना चढ़ाने वाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर पुरुष सब शत्रुओं को जीत कर सज्जनों की रक्षा करे, वही गोलाकार पृथिवी के बीच में सब ओर से चक्रवर्ती राजा होकर संसार में उपकारी बने ॥ १ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकर्त्तव्योपदेशः—सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सध-

१—(अयम्) प्रसिद्धः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी सेनापतिः (सत्पतिः) सतां सज्जनानां पालकः (वृद्धवृष्णः) इण्सिञ्जि०। उ० ३। २। वृषु सेचने—नक्। वृष्णं बलम्। प्रवृद्धबलः (रथी) रथ—इनि। रथवान् योद्धा (इव) यथा (पत्तीन्) पदिप्रथिभ्यां नित्। उ० ४। १८३। पद गतौ स्थैर्ये च—ति। शत्रुसेनाः (अजयत्) जितवान् (पुरोहितः) अ० ३। १९। १ अग्रगामी (नाभा) नाभौ मध्यदेशे (पृथिव्याम्) भूमौ (निहितः) स्थापितः। अभिषिक्तः (दविद्युतत्) दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति०। पा० ७। ४। ६५ द्युत दीप्तौ यङ्लुकि शतृ। अत्यर्थं द्योतमानः (अधस्पदम्) पादस्याधो देशे (कृणुताम्) करोतु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) अ० ७। ३४। १। संग्रामेच्छवः ॥

स्थात् । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

पृतना-जितम् । सहमानम् । अग्निम् । उक्थैः । हवामहे । परमात् । सध-स्थात् । सः । नः । पर्षत् । अति । दुः-गानि । विश्वा । क्षामत् । देवः । अति । दुः-इतानि । अग्निः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृतनाजितम्) संग्राम जीतने वाले, (सहमानम्) विजयी, (अग्निम्) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति को (उक्थैः) स्तुतियों के साथ [उसके] (परमात्) बहुत ऊंचे (सधस्थात्) निवास स्थान से (हवामहे) हम बुलाते हैं। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल (अग्निः) तेजस्वी सेनापति (विश्वा) सब (दुर्गाणि) दुर्गों को (अति) उलांघ कर और (दुरितानि) विघ्नों को (अति) हटाकर (नः) हमें (पर्षत्) पार लगावे, और (क्षामत्) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति शत्रुओं के गढ़ तोड़ कर विजय पाता है वही प्रजापालन में समर्थ होता है ॥१॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-२ ॥ १ आपः; २ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुभ्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

इदं यद् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

१—(पृतनाजितम्) संग्रामजेतारम् (सहमानम्) षह अभिभवने नैरुक्तो धातुः । अभिभवन्तम् । विजयिनम् (अग्निम्) अग्निवत्तेजस्विनं सेनापतिम् (उक्थैः) वक्तव्यैः स्तोत्रैः (हवामहे) आह्वयामः (परमात्) उत्कृष्टात् (सधस्थात्) निवासात् (सः) (नः) अस्मान् (पर्षत्) अ० ६ । ३४ । १ । पारयेत् (अति) उल्लंघ्य (दुर्गाणि) दुर्गमनान् शत्रुकोट्टान् (विश्वा) सर्वाणि (क्षामत्) क्षमूष् सहने णिचि, लेटि, अडागमः । क्षामयेत समर्थयेत् (देवः) व्यवहारकुशलः (अति) अतीत्य (दुरितानि) विघ्नान् (अग्निः) सेनापतिः ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभि-निष्पतन् । अपीपतत् । आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुः-इतात् । पान्तु । अंहसः ॥१

भाषार्थ—(कृष्णः) कौवे वा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (अभिनिष्पतन्) सन्मुख आते हुये (इदम् यत्) यह जो कष्ट (अपीपतत्) गिराया है। (आपः) उत्तम कर्म (मा) मुझको (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) कष्ट से (पान्तु) बचावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके सब बाहिरी और भीतरी विपत्तियों से बचें ॥१॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अव-अमृक्षत् । निः-ऋते । ते । मुखेन । अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्ह-पत्यः । प्र । मुञ्चतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे कठिन आपत्ति ! (ते) तेरे (मुखेन) मुख के सहित (कृष्णः) कौवे अथवा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (इदम्) यह (यत्) जो कुछ कष्ट (अवामृक्षत्) एकत्र किया है। (गार्हपत्यः)

१—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) श्वाकाक इति कुत्सायाम्—निरु० ३। १८। काक इव निन्दित उपद्रवः। शकेरुनोन्तोन्त्युनयः। उ० ३। ४६। शक्लृ शक्तौ—उनि। चिल्ल इव निन्दितः (अभिनिष्पतन्) अभिमुखमागच्छन् (अपीपतत्) पत्लृ अधःपतने—णिचि लुङि रूपम्। पातितवान्। प्रापितवान् (आपः) अ० ६। ६१। ३। उत्तमानि कर्माणि (मा) माम् (तस्मात्) (सर्वस्मात्) (दुरितात्) दुर्गतात्। कठिनात् (पान्तु) रक्षन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) म० १। काक इव निन्दित उपद्रवः (शकुनिः) चिल्ल इव निन्दितः (अवामृक्षत्) मृक्ष संघाते—लङ्। राशीकृतवान् (निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते (ते) तव (मुखेन) (अग्निः) व्यापकः

गृहपति [आत्मा] से संयुक्त (अग्निः) पराक्रम (तस्मात्) उस (एनसः) कष्ट से (मा) मुझ को (प्र मुञ्चतु) छुड़ा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्म पराक्रम करके विघ्नों को हटा कर सुखी रहें॥२॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वैद्यकर्मोपदेशः—वैद्य के कर्म का उपदेश ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीन-फलः। हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपामार्ग) हे सर्व संशोधक वैद्य ! [वा अपामार्ग औषध !] (त्वम्) तू (हि) निश्चय करके (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूलगतिवाले रोगों का नाश करने वाला (रुरोहिथ) उत्पन्न हुआ है । (इतः मत्) इस मुझसे (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [दोषों] को (अधि) अधिकार पूर्वक (वरीयः) अति दूर (यवयाः) तू हटाता देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य अपामार्ग आदि औषध से रोगों को दूर करता है, वैसे ही विद्वान् अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को हटावे ॥१॥

अपमार्ग औषध विशेष है जिससे कफ, बवासीर, खुजिली, उदररोग और विष रोग का नाश होता है—देखो अ० ४ । १७ । ६ ॥

पराक्रमः (मा) माम् (तस्मात्) (एनसः) कष्टात् (गार्हपत्यः) अ० ५ । २१ । ५ । गृहपतिना आत्मना संयुक्तः (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

१—(प्रतीचीनफलः) अ० ५ । १९ । ७ प्रतिकूलगतिवानां रोगाणां विदारकः (हि) निश्चयेन (त्वम्) (अपामार्ग) अ० ४ । १७ । ६ । हे सर्वथा संशोधक वैद्य । औषधविशेष (रुरोहिथ) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—लिट् उत्पन्नो बभूविथ (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् दोषान् (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरुतरम् । अति दूरम् (यावयाः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेटि, आडागमः, सांहितिको दीर्घः । पृथक् कुर्याः (इतः) अस्मात् ॥

यद्‌ दु॑ष्कृतं यच्छम॑लं यद्‌ वा॑ चेरि॒म पा॒पया॑ ।
त्वया॒ तद्‌ वि॑श्वतोमु॒खापा॑मा॒र्गाप॑ मृज्महे ॥ २ ॥

यत्‌ । दुः॒-कृ॒तम्‌ । यत्‌ । शम॑लम्‌ । यत्‌ । वा॒ । चे॒रि॒म । पा॒पया॑ ।
त्वया॑ । तत्‌ । वि॒श्व॒तः॒-मु॒ख॒ । अपा॑मार्ग । अप॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥२४

भाषार्थ—(यत्‌) जो कुछ (दुष्कृतम्‌) दुष्कर्म (यद्‌ वा) अथवा (यत्‌) जो कुछ (शमलम्‌) मलिन कर्म (पापया) पाप बुद्धि से (चेरिम) हमने किया है। (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख रखने वाले ! [अतिदूरदर्शी] (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! (त्वया) तेरे साथ (तत्‌) उसको (अप मृज्महे) हम शोधते हैं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्कर्म और मलिनकर्म से उत्पन्न रोगों को सद्वैद्य की सम्मति से औषध द्वारा निवृत्त करें ॥२॥

श्या॒वद॑ता कुन॒खिना॑ ब॒ण्डेन॒ यत्‌ स॒हासि॒म ।
अपा॑मार्ग॒ त्वया॑ व॒यं सर्वं॒ तदप॑ मृज्महे ॥ ३ ॥

श्या॒व-द॑ता । कु॒न॒खिना॑ । ब॒ण्डेन॑ । यत्‌ । स॒ह । आ॒सि॒म ।
अपा॑मार्ग॒ । त्वया॑ । व॒यम्‌ । सर्व॑म्‌ । तत्‌ । अप॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥३॥

भाषार्थ—(श्यावदता) काले दांत वाले, (कुनखिना) दूषितनख वाले (वण्डेन) वण्डे [टेढ़े मेढ़े अङ्ग वाले रोगी] के (सह) साथ (यत्‌) जो (आसिम) रहे हैं। (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! [वैद्य वा अपामार्ग

२—(यत्‌) यत्‌ किञ्चित्‌ (दुष्कृतम्‌) दुष्कर्म (यत्‌) (शमलम्‌) अ० ४। ६। ६ मालिन्यम्‌ (यद्‌ वा) अथवा (चेरिम) चर गतिभक्षणयोः—लिट्‌। वयं कृतवन्तः (पापया) पापबुद्ध्या (त्वया) (तत्‌) दुष्कृतं शमलं वा (विश्वतोमुख) सर्वदिङ्मुख। अतिदूरदर्शिन्‌ (अपामार्ग) म० १। सर्वथा संशोधक (अप मृज्महे) सर्वथा शोधयामः ॥

३—(श्यावदता) विभाषा श्यावारोकाभ्यां च पा०। पा० ५। ४। १४४। श्यावपदादुत्तरस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः। कृष्णदन्तयुक्तेन (कुनखिना) दूषितनखयुक्तेन (वण्डेन) वडि विभाजने, वेष्टने च—अच्‌। विकलाङ्गेन (यत्‌)

औषध !] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सब को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥३॥

भावार्थ—यदि रोग की व्याकुलता से शरीर अङ्गभङ्ग हो जावे, उसे ओषधि द्वारा स्वस्थ करें ॥३॥

सूक्तम् ९९ ॥

१ ॥ ब्राह्मणं देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविज्ञानव्याप्त्युपदेशः—वेद विज्ञान की व्याप्ति का उपदेश ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥१॥

यदि । अन्तरिक्षे । यदि । वाते । आस । यदि । वृक्षेषु । यदि । वा । उलपेषु । यत् । अश्रवन् । पशवः । उद्यमानम् । तत् । ब्राह्मणम् । पुनः । अस्मान् । उप-ऐतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यदि=यत्) जो [ब्रह्मज्ञान] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यदि) जो (वाते) वायु में (यदि) जो (वृक्षेषु) वृक्षों में, (वा) और (यदि) जो (उलपेषु) कोमल तृणों [अन्न आदि] में (आस) व्याप्त था। (यत्) जिस (उद्यमानम्) उच्चारण किये हुये को (पशवः) सब प्रा-

---

(सद) (आसिम) अस भुवि-लङ्, इत्वं छान्दसम्। आस्म। अभवाम। अन्यत् स्पष्टम् ॥

१—(यदि) यत्। ब्राह्मणम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (यदि) (वाते) वायौ (आस) अस गतिदीप्त्यादानेषु—लिट्। व्याप्तं बभूव (यदि) (वृक्षेषु) सेवनीयेषु तरुषु (यदि) (वा) अवधारणे। समुच्चये (उलपेषु) विटपविष्ट-पविशिपोलपाः। उ० ३। १४५। वल संवरणे—कपप्रत्ययः, सम्प्रसारणम्। कोमलतृणेषु। अन्नादिषु (यत्) ब्राह्मणम् (अश्रवन्) शृणोतेर्लङि छान्दसः शप्। अशृण्वन् (पशवः) अ० २।२६।१। मनुष्यादिप्राणिनः (उद्यमानम्) वद व्यक्तायां वाचि कर्मणि शानच्, यक्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम्। उच्चार्यमाणम् (तत्) (ब्राह्मणम्) तस्येदम्। पा० ४।३।१२०। ब्रह्मन्—अण्। अन्। पा० ६।४।१६७। नटिलोपः। ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ब्राह्मणस्य

णियों ने (अश्रवन्) सुना है; (तत्) वह (ब्राह्मणम्) वेद विज्ञान (पुनः) बारंबार [अथवा परजन्म में] (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञान सब पदार्थों में, और सब पदार्थ ईश्वर ज्ञान में हैं, मनुष्य उस ईश्वर ज्ञान को नित्य और जन्म जन्म में प्राप्त करके मोक्षपद भागी होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्तदेवताः ॥ बृहती छन्दः ॥

सुकर्मकरणायोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१॥

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् । ब्राह्मणम् । च । पुनः । अग्नयः । धिष्ण्याः । यथा-स्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रियम्) इन्द्रत्व [परम ऐश्वर्य] (मा) मुझको (पुनः) अवश्य [वा फिर जन्म में], (आत्मा) आत्मबल, (द्रविणम्) धन (च) और (ब्राह्मणम्) वेदविज्ञान (पुनः) अवश्य [वा परजन्म में] (आ एतु) प्राप्त होवे (धिष्ण्याः) बोलने में चतुर (अग्नयः) विद्वान् लोग (यथास्थाम) यथास्थान [कर्म अनुसार मुझको] (इह) यहाँ (एव) ही (पुनः) अवश्य

वेदम् । वेदविज्ञानम् (पुनः) वारं वारम् । परजन्मनि वा (अस्मान्) उपासकान् (उपैतु) उप+आ+एतु । प्राप्नोतु ॥

१—(पुनः) अवश्यं परजन्मनि वा (मा) मां प्राणिनम् (एतु) आगच्छतु (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । धनम्—निघ० २ । १० । (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (द्रविणम्) धनम् (ब्राह्मणम्) अ० ७ । ६६ । १ । वेदविज्ञानम् (च) (पुनः) (अग्नयः) अ० २ । ३५ । १ । ज्ञानिनः पुरुषाः (धिष्ण्याः) अ० २ । ३५ । १ । धिष शब्दे—ण्य । शब्दकुशलाः (यथास्थाम) आतोमनिन्० । पा० ३ । २ । ७४ । तिष्ठतेर्मनिन् । यथास्थानम् ।

[वा पर जन्म में] (कल्पयन्ताम्) समर्थ करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा सुकर्मी होकर इस लोक और परलोक में आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका, पुनर्जन्म विषय, पृष्ठ ३०३ में में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ सरस्वती देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्;३ गायत्री ॥

सरस्वत्याराधनोपदेशः—सरस्वती की आराधना का उपदेश ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धाम-सु । जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी (सरस्वति) सरस्वती ! [विज्ञानवती वेद विद्या] (ते) अपने (दिव्येषु) दिव्य (व्रतेषु) व्रतों [नियमों] में और (धामसु) धर्मों [धारण शक्तियों] में [हमारे] (आहुतम्) दिये हुये (हव्यम्) ग्राह्य कर्म को (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) [उत्तम] प्रजा (ररास्व) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उत्तम विद्या प्राप्त करके सब प्रजा प्राणीमात्र को उत्तम बनावें ॥ १ ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं १

यथाकर्मफलम् (कल्पयन्ताम्) समर्थयन्तु (इह) अस्मिन् संसारे (एव) हि ॥

१—(सरस्वति) विज्ञानवति (व्रतेषु) नियमेषु (ते) तव । स्वेषु (दिव्येषु) उत्तमेषु (देवि) दिव्यगुणे (धामसु) धारणसामर्थ्येषु । धर्मसु (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) हु-यत् ग्राह्यं कर्म (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (प्रजाम्) मनुष्यादिरूपाम् (देवि) (ररास्व) रा दाने, शपः श्लुः । देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

यत् । इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधु-
मन्तः स्याम ॥ २ ॥

इदम् । ते । हव्यम् । घृत-वत् । सरस्वति । इदम् । पितृ-
णाम् । हविः । आस्यम् । यत् । इमानि । ते । उदिता ।
शम्-तमानि । तेभिः । वयम् । मधु-मन्तः । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! (इदम्) यह (यत्) जो (ते) तेरा (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (हव्यम्) ग्राह्य कर्म है, और (इदम्) यह [जो] (पितृणाम्) पिता समान माननीय विद्वानों के (आस्यम्) मुख पर रहनेवाला (हविः) ग्राह्य पदार्थ है। और [जो] (ते) तेरे (इमानि) यह सब (शंतमानि) अत्यन्त शान्ति देनेवाले (उदिता) वचन हैं, (तेभिः) उनसे (वयम्) हम (मधुमन्तः) उत्तम ज्ञानवाले (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदविद्या का प्रकाश सारे संसार भर में फैलरहा है, और विद्वान् लोग जिसका अभ्यास करके उपदेश करते हैं, उस विद्या से सब मनुष्य लाभ उठावें ॥ २ ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

शिवा । नः । शम्-तमा । भव । सु-मृडीका । सरस्वति ।
मा । ते । युयोम । सम्-दृशः ॥ ३ ॥

२—(इदम्) प्रत्यक्षम् (ते) तव (हव्यम्) ग्राह्यं ज्ञानम् (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (सरस्वति) विज्ञानवति विद्ये (इदम् (पितृणाम्) पितृसम-माननीयानां विदुषाम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (आस्यम्) आस्य—यत्, यलोपः । आस्ये मुखे भवम् । विधिवदभ्यस्तम् (यत्) (इमानि) (ते) तव (उदिता) वदव्यक्तायां वाचि—क्त, यजादित्वात् संप्रसारणम् । उक्तानि वचनानि (शंतमानि) अत्यर्थं सुखकराणि (तेभिः) (तैः) वचनैः (मधुमन्तः) उत्तमज्ञानयुक्ताः (स्याम) भवेम ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) कल्याणी, (शंतमा) अत्यन्त शान्ति देनेवाली और (सुमृडीका) अत्यन्त सुख देनेवाली (भव) हो। हम लोग (ते) तेरे (संदृशः) यथावत् दर्शन [यथार्थ स्वरूप के ज्ञान] से (मा युयोम) कभी अलग न होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य नित्य अभ्यास से विद्या का ठीक ठीक स्वरूप जान कर आत्मा को सदा शान्त रक्खें ॥ २ ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१ ॥ वातादयो देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सुखाय प्रयत्नोपदेशः—सुख के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः । अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः । अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् । शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शम्) सुखकारी (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (वातु) चले, (शम्) सुखकारी (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शम्) (तपतु) तपे। (अहानि) दिन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवन्तु) होवें, (रात्री) रात्रि (शम् प्रति) सुख के लिये (धीयताम्) धारण की जावे (शम्)

२—(शिवा) कल्याणी (नः) अस्मभ्यम् (शंतमा) अत्यर्थं रोगनिवारिका (भव) (सुमृडीका) अत्यन्तं सुखदा (सरस्वति) (ते) तव (मा युयोम) यौतेर्लोटि शपः श्लुः । पृथग्भूता मा भवेम (संदृशः) दृशिर्—क्विप् । समीचीनाद् दर्शनात् । यथार्थस्वरूपज्ञानात् ॥

१—(शम्) सुखकरः (नः) अस्मभ्यम् (वातः) वायुः (वातु) संचरतु (शम) (नः) (तपतु) तापं करोतु (सूर्यः) (अहानि) दिनानि (शम्) सुखकराणि (भवन्तु) (नः) (शम्) सुखम् (रात्री) (प्रति) व्याप्य (धीयताम्)

सुखकारी (उषाः) उषा [प्रभात वेला] (नः) हमारे लिये (वि) विविध प्रकार (उच्छतु) चमके ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा से ऐसे काम करें जिसमें वायु, सूर्य आदि पदार्थों से प्रतिक्षण सुख मिलता रहे ॥ १ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१-५ ॥ इन्द्रोऽग्निर्वा देवता ॥ १,२ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

शत्रुदमनोपदेशः—शत्रु के दमन का उपदेश ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा । तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च । असौ । मनसा । यत् । च । वाचा । यज्ञैः । जुहोति । हविषा । यजुषा । तत् । मृत्युना । निःऽऋतिः । सम्ऽविदाना । पुरा । सत्यात् । आऽहुतिम् । हन्तु । अस्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह [शत्रु] (यत् किम्) जो कुछ (मनसा) मन से, (चच) और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से, (यज्ञैः) सङ्गति कर्मों से, (हविषा) भोजन से और (यजुषा) दान से (जुहोति) आहुति करता है । (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) मिली हुई (निर्ऋतिः)

डुधाञ् धारणपोषणयोः—कर्मणि लोट् । ध्रियताम् (शम्) सुखप्रदा (उषाः) प्रभातवेला, (नः) अस्मभ्यम् (वि) विविधम् (उच्छतु) उच्छी विवासे । विवासिता प्रकाशिता भवतु ॥

१—(यत् किम्) यत् किञ्चित् (च) (असौ) शत्रुः (मनसा) अन्तःकरणेन (यत्) (च) (वाचा) वाण्या (यज्ञैः) सङ्गतिकर्मभिः (जुहोति) आहुतिं करोति (हविषा) भोजनेन (यजुषा) दानेन (तत्) ताम् (मृत्युना) (निर्ऋतिः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तिः । दरिद्रतादिः (संविदाना) अ०

निर्ऋति, दरिद्रता आदि अलक्ष्मी (सत्यात् पुरा) सफलता से पहिले (अस्य) इसकी (तत्) उस (आहुतिम्) आहुति को (हन्तु) नाश करे ॥१॥

भावार्थ—जो शत्रु मन, वचन और कर्म से प्रजा को सताने का उपाय करे, निपुण सेनापति शीघ्र ही उसे धनहरण आदि दण्ड देकर रोक देवे ॥ १ ॥

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् । इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् संपादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातु-धानाः । निः-ऋतिः । आत् । ऊं इति । रक्षः । ते । अस्य । घ्नन्तु । अनृतेन । सत्यम् । इन्द्र-इषिताः । देवाः । आज्यम् । अस्य । मथ्नन्तु । मा । तत् । सम् । पादि । यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (आत् उ) और भी (ते) वे सब (यातुधानाः) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) सफलता को (अनृतेन) मिथ्या आचरण के कारण (घ्नन्तु) नाश करें (इन्द्रेषिताः) इन्द्र, परम ऐश्वर्य वाले सेनापति के भेजे हुये (देवाः) विजयी शूर (अस्य) इसके (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (मथ्नन्तु) विध्वंस करें, (असौ) वह [शत्रु] (यत्) जो कुछ (जुहोति) आहुति दे, (तत्) वह (मा सम् पादि) सम्पन्न [सफल] न होवे ॥ २ ॥

२।२८।२। संगच्छमाना (पुरा) पूर्वम् (सत्यात्) कर्मसाफल्यात् (आहुतिम्) होमक्रियाम् (हन्तु) नाशयतु (अस्य) शत्रोः ॥

२—(यातुधानाः) अ० १।७।१। पीडाप्रदाः (निर्ऋतिः) म० १। कृच्छ्रापत्तिः। दरिद्रतादिः (आत् उ) अपि च (रक्षः) राक्षसः (ते) सर्वे (अस्य) शत्रोः (घ्नन्तु) नाशयन्तु (अनृतेन) मिथ्याचरणेन (सत्यम्) कर्मसाफल्यम् (इन्द्रेषिताः) इन्द्रेण परमैश्वर्यवता सेनापतिना प्रेरिताः (देवाः) विजयिनः शूराः (आज्यम्) घृतम्। तत्त्वपदार्थम् (अस्य) शत्रोः (मथ्नन्तु) नाशयन्तु (तत्) (मा सम् पादि) पद गतौ माङि लुङिरूपम्। सम्पन्नं सफलं मा भवेत् (यत्) यत् किञ्चित् (असौ) शत्रुः (जुहोति) आहुतिं करोति ॥

भावार्थ—सेना पति की नीति निपुणता से शत्रुओं में निर्धनता और परस्पर फूट पड़ जाने से शत्रु लोग निर्बल होकर आधीन हो जावें ॥ २ ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव । आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अजिर-अधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौ-इव । आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभि-अघायति ॥३॥

भाषार्थ—(अजिराधिराजौ) शीघ्रगामी दोनों बड़े राजा [दरिद्रता और मृत्यु—म० १] (सम्पातिनौ) झपट मारने वाले (श्येनौ इव) दो श्येन वा बाज पक्षी के समान (पृतन्यतः) उस चढ़ाई करने वाले शत्रु के (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (हताम्) नाश करें (यः कः च) जो कोई (नः) हम से (अभ्यघायति) दुष्ट आचरण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुःखदायी शत्रुओं के नाश करने में राजा शीघ्रता करे ॥३॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् । अग्नेः । देवस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ४॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरे (अपाञ्चौ) पीछे को चढ़ाये गये

३—(अजिराधिराजौ) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । अज-गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिरः शीघ्रगामी । अधिराजः । राजाहः सखिभ्यष्टच् पा० ५ । ४ । ९१ । इति टच् । अधिको राजा । तौ निर्ऋतिमृत्यू (श्येनौ) अ० ३ । ३ । ३ । पक्षिविशेषौ (सम्पातिनौ) निष्पतनशीलौ (इव) यथा (आज्यम्) घृतम् । तत्त्वपदार्थम् (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । सङ्ग्रामेच्छोः (हताम्) नाशयताम् (यः) (नः) अस्मान् (कः च) कश्चित् (अभ्यघायति) अ० ५ । ६ । ९ । पापं कर्तुमिच्छति ॥

४—(अपाञ्चौ) अपाञ्चनौ पृष्ठे सम्बद्धौ (ते) तव (उभौ) द्वौ (बाहू)

(उभौ) दोनों (बाहू) भुजाओं को (अपि) और (आस्यम्) मुखको (नह्यामि) मैं बांधता हूं । (देवस्य) विजयी (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजन आदि ग्राह्यपदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को दण्ड देकर कारागार में रखकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ४ ॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।
अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (अपि नह्यामि) बांधे देता हूं और (आस्यम्) मुख को (अपि) भी (नह्यामि) बन्द करता हूं । (घोरस्य) भयंकर (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजनादि ग्राह्य पदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र चार के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिगुणोपदेशः—सेनापति के गुणों का उपदेश ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

भुजौ (अपि) पच (नह्यामि) बध्नामि (आस्यम्) मुखम् (अग्नेः) तेजस्विनः सेनापतेः (देवस्य) विजयमानस्य (मन्युना) तेजसा । क्रोधेन (ते) तव (अवधिषम्) हन्तेर्लुङ् । नाशितवानस्मि (हविः) होतव्यम् । ग्राह्यं द्रव्यम् ॥

५—(घोरस्य) भयङ्करस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृषद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश करने वाले कर्म से युक्त [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परिधी बनाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८७ । २२ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यत । इन्द्रस्य । भागम् । ऋत्वियम् ।
यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रातम् । ममत्तन ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत् तिष्ठत) खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य)

१—(परिधीमहि) अ० ७ । १७ । २ । परिधिरूपेण धारयेम (त्वा) त्वाम् (अग्ने) तेजस्विन् सेनापते (पुरम्) दुर्गरूपम् (वयम्) प्रजागणाः (विप्रम्) मेधाविनम् (सहस्य) अ० ४ । ५ । १ । सहसे बलाय हित (धृषद्वर्णम्) धर्षकरूपम् (दिवे दिवे) प्रति दिनम् (हन्तारम्) नाशयितारम् (भङ्गुरवतः) भञ्जभासमिदो घुरच् । पा० ३ । २ । १६१ । भञ्जो आमर्दने—घुरच् । चजोः कु घिण्यतोः पा० ७ । ३ । ५२ । कुत्वम् । भञ्जनकर्मयुक्तस्य कपटिनः पुरुषस्य ॥

१—(उत्तिष्ठत) ऊर्ध्वं तिष्ठत । पौरुषं कुरुत (अवपश्यत) निरीक्ष-

बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य के (ऋत्वियम्) सब काल में मिलनेवाले (भागम्) ऐश्वर्य समूह को (अव पश्यत) खो जो । (यदि) जो (श्रातम्) वह परिपक्व [निश्चित] है, (जुहोतन) ग्रहण करो, (यदि) जो (अश्रातम्) अपरिपक्व [अनिश्चित] है, [उसे पका, निश्चित करके] (ममत्तन) तृप्त [भरपूर] करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े मनुष्यों के समान निश्चित ऐश्वर्य प्राप्त करें, और अनिश्चितकर्म को विवेक पूर्वक निश्चित करके समाप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १७६ । १—३ ॥

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् । परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

श्रातम् । हविः । ओ इति । सु । इन्द्र । प्र । याहि । जगाम । सूरः । अध्वनः । वि । मध्यम् । परि । त्वा । आसते । निधिभिः । सखायः । कुल-पाः । न । व्राज-पतिम् । चरन्तम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (श्रातम्) परिपक्व [निश्चित] (हविः) ग्राह्यकर्म को (ओ) अवश्य (सु) भले प्रकार से (प्र याहि) प्राप्त हो, [जैसे] (सूरः) सूर्य (अध्वनः) अपने मार्ग के (मध्यम्)

ध्यम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो मनुष्यस्य । (भागम्) भग—अण् समूहे । ऐश्वर्यसमूहम् (ऋत्वियम्) अ० ३ । २० । १ । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु भवम् (यदि) सम्भावनायाम् (श्रातम्) श्रीञ् पाके—क्त । अपस्पृधेथामानृचुः० । पा० ६ । १ । ३६ । इति श्राभावः । पक्वम् । निश्चितम् (जुहोतन) हु दानादानादनेषु । लोटि तस्य तनप्, जुहुत । गृह्णीत (यदि) (अश्रातम्) अपक्वम् । अनिश्चितम् (ममत्तन) मद तृप्तियोगे । लोटि शपः श्लु । मदयत । तर्पयत । समाधत्त ॥

२—(श्रातम्) अ० १ । पक्वम् । निश्चितम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओ) अवश्यम् (सु) सुष्ठु (प्र याहि) प्राप्नुहि (जगाम) प्राप (सूरः) अ० ४ ।

मध्य भाग को (वि) विशेष करके (जगाम) प्राप्त हुआ है। (सखायः) सब मित्र (निधिभिः) अनेक निधियों के साथ (त्वा) तेरे (परि आसते) चारो ओर बैठते हैं, (न) जैसे (कुलपाः) कुल रक्षक लोग (चरन्तम्) चलते फिरते (व्राजपतिम्) घर के स्वामी को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुपहर के सूर्य के समान तेजस्वी होकर अपने कर्तव्य को पूरा करें, पुरुषार्थी मनुष्य के ही अन्य सब लोग सहायक होते हैं ॥२॥

आतं मन्य ऊधनि आतमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः। माध्यंन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः ॥ ३ ॥

आतम्। मन्ये। ऊधनि। आतम्। अग्नौ। सु-शृतम्। मन्ये। तत्। ऋतम्। नवीयः। माध्यंन्दिनस्य। सवनस्य। दध्नः। पिब। इन्द्र। वज्रिन्। पुरु-कृत्। जुषाणः ॥ १ ॥

भावार्थ—(ऊधनि) [दूसरों को] चलाने वा सींचने में (आतम्) परिपक्वता [निश्चय पन], (अग्नौ) अग्नि अर्थात् पराक्रम में (आतम्) परिपक्वता (मन्ये) मैं मानता हूं, [जो] (ऋतम्) सत्य धर्म है, (तत्) उसको (नवीयः) अधिक स्तुतियोग्य, (सुशृतम्) सुपरिपक्व [सुनिश्चित

२। ४। लोकप्रेरकः सूर्यः (अध्वनः) अ० १। ४। १। मार्गस्य (वि) विशेषेण (मध्यम्) मध्याह्नकालम् (परि) व्याप्य (त्वा) इन्द्रम् (आसते) उपविशन्ति (निधिभिः) धनकोषैः (सखायः) सुहृदः (कुलपाः) वंशरक्षकाः (न) इव (व्राजपतिम्) व्रज गतौ—घञ्। गृहस्वामिनं प्रधानम् (चरन्तम्) गच्छन्तम्। उद्योगिनम् ॥

३—(आतम्) —म० १। भावे—क्त। परिपचनम् सुनिश्चयम् (मन्ये) अहं जाने (ऊधनि) अ० ४। ११। ४। श्वेः सम्प्रसारणं च। उ० ४। १९३। वह प्रापणे—असुन्। यद्वा। उन्दी क्लेदने—असुन्, इति ऊधस्, पृषोदरादि रूपम्। छन्दस्यपि दृश्यते। पा० ७। १। ७६। ऊधस् शब्दस्यापि अनङ् आदेशः। यद्वा। ऊधसोऽनङ्। पा० ५। ४। १३१। समासे विधीयमानोऽनङ् छन्दसि केवला-

घर्म] (मन्ये) मैं मानता हूं । (वज्रिन्) हे वज्रधारी ! (पुरुकृत्) हे अनेक कर्म करनेवाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य ! (जुषाणः) प्रसन्न होकर (माध्यन्दिनस्य) मध्य दिन के (सवनस्य) काल वा स्थान की (दध्नः) धारण शक्ति का (पिब) पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखकर परोपकार और पराक्रम करके सूर्य के समान तेजस्वी हो ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७३ ॥

१-११ ॥ १-५ अश्विनौ; ६,७ सविता; ८, ११ अघ्न्या; ९, १० अग्निर्देवता ॥ १,४ जगती; २ बृहती; ३, ५-११ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु । वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

सम्-इद्धः । अग्निः । वृषणा । रथी । दिवः । तप्तः । घर्मः ।

वृषि । ऊधसि । वहने नयने । सेचने (भातम्) (अग्नौ) पराक्रमे (सुशृतम्) श्रृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । श्रा पाके—क्त । परिपक्वम् । निश्चितम् (मन्ये) (तव) (ऋतम्) सत्यं धर्मं (नवीयः) णु स्तुतौ—अप् + ईयसुन् । स्तुत्यतरम् (माध्यन्दिनस्य) अन्तः पूर्वपदात् ठञ् । पा० ४ । ३ । ६० । मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् । इति वार्तिकम् । मध्य-दिनण्प्रत्ययः । मध्ये भवस्य । यद्वा । उत्सादिभ्योऽञ् । पा० ४ । १ । ८६ । मध्यन्दिन—अञ् । मध्यदिने भवस्य (सवनस्य) षू प्रेरणे—ल्युट् । सवनानि स्थानानि—निरु० ५ । २५ । कालस्य स्थानस्य (दध्नः) भाषायां धाञ्कृसृजनि । पा० पा० ३ । २ । १७१ । डु धाञ् धारणपोषणयोः—कि । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । दध धारणे-इन् । अस्थिदधि० । पा० ७ । १ । ७५ । इत्यनङ् । धारणस्य । आलम्बनस्य (पिब) पानं कुरु । स्वीकुरु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (वज्रिन्) वज्रधारक (पुरुकृत्) हे बहुकर्मन् (जुषाणः) प्रीयमाणः ॥

दुह्यते । वाम् । इषे । मधु । वयम् । हि । वाम् । पुरु-दमासः । अश्विना । हवामहे । सधु-मादेषु । कारवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी], (दिवः) आकाश के [मध्य] (रथी) रथवाला (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है]; (वाम्) तुम दोनों की (इषे) इच्छापूर्ति के लिये (मधु) ज्ञान (दुह्यते) परिपूर्ण किया जाता है । (पुरुदमासः) बड़े दमनशील, (कारवः) काम करने वाले (वयम्) हम लोग (वाम्) तुम दोनों को (हि) ही, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुष ! (सधमादेषु) अपने उत्सवों पर (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विज्ञानी शिक्षकों से विविध विद्यायें प्राप्त करें । और सब लोग ऐसे विद्वान् स्त्री पुरुषों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

सम्-इद्धः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ । गतम् । दुह्यन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । धेनवः । दस्रा । मदन्ति । वेधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों के लिये (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्नि) अग्नि समान तेजस्वी (तप्तः) ऐश्वर्य-

१—(समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निः) अग्निरिव तेजस्वी (वृषणा) पराक्रमिणौ (रथी) रथ-इनि । रथिकः (दिवः) आकाशस्य मध्ये (तप्तः) तप ऐश्वर्ये—क्त । ऐश्वर्ययुक्तः (घर्मः) अ० ४ । १ । २ । प्रकाशमान आचार्यः (दुह्यते) प्रपूर्यते (वाम्) युवयोः (इषे) इच्छापूर्तये (मधु) ज्ञानम् (वयम्) (हि) अवधारणे (वाम्) युवाम् (पुरुदमासः) अतुगागमः । बहुदमनशीलाः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कर्मसु व्यापकौ स्त्रीपुरुषौ (हवामहे) आह्वयामः (सधमादेषु) उत्सवेषु (कारवः) उ० १ । १ । करोतेः—उण् । कर्मकर्तारः ॥

२—(आ गतम्) आगच्छतम् (दुह्यन्ते) प्रपूर्यन्ते (नूनम्) निश्चयेन (इह) अस्मिन् समाजे (धेनवः) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्वाङ्नाम-निघ०

युक्त, (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है], (आ गमम्) तुम दोनों आवो। (वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! और (दस्रा) हे दर्शनीयो या रोग-नाशको ! (धेनवः) वेदवाणियां (नूनम्) अवश्य (इह) यहां पर (दुह्रन्ते) दुही जाती हैं, और (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (मदन्ति) आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष वेद विद्या द्वारा विज्ञानी होकर कीर्तिमान् होते हैं, बुद्धिमान् उनसे उपदेश पाकर लाभ उठाते हैं ॥ २ ॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः। तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा-कृतः। शुचिः। देवेषु। यज्ञः। यः। अश्विनोः। चमसः। देव-पानः। तम्। ऊं इति। विश्वे। अमृतासः। जुषाणाः। गन्धर्वस्य। प्रति। आस्ना। रिहन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवेषु) उत्तम गुणों में वर्तमान; (अश्विनोः) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों का (यः) जो (स्वाहाकृतः) सुन्दरवाणी से सिद्ध किया गया, (शुचिः) पवित्र (देवपानः) विद्वानों से रक्षा योग्य (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (चमसः) मेघ [के समान उपकारी] है। (तम् उ) उसी [उत्तम व्यवहार को (जुषाणाः] सेवन करते हुये (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [निरा-

---

१। ११। तर्पयित्र्यो वेदवाचः (दस्रा) स्फायीतञ्चिवञ्चि० । उ० २। १३। दसु उपक्षये, दस दर्शने-रक्। रोगनिवारकौ। दर्शनीयौ—निरु० ६। २६ (मदन्ति) हृष्यन्ति (वेधसः) अ० १। ११। १। विध विधाने—असुन्। मेधाविनः—निघ० ३। १५। अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(स्वाहाकृतः) अ० २। १६। १। सुवाचा निष्पन्नः (शुचिः) पवित्रः (देवेषु) दिव्यगुणेषु वर्तमानयोः (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (अश्विनोः) उत्तमस्त्रीपुरुषयोः (चमसः) अ० ६। ४७। ३। मेघः—निघ० १। १०। मेघ इवोपकारी (देवपानः) विद्वद्भिः पानं रक्षणं यस्य सः (तम्) यज्ञम् (उ) एव (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः। निरलसाः (जुषाणाः) सेवमानाः। प्रीय-

[मनस्वी] लोग (गन्धर्वस्य) पृथिवी रक्षक सूर्य के (आस्ना) मुख से [महा तेजस्वी होकर] (प्रति) प्रत्यक्ष (रिहन्ति) पूजते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुषों के उत्तम व्यवहारों का अनुकरण करके पुरुषार्थी लोग उनको सराहते हैं ॥ ३ ॥

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्। माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥

यत्। उस्रियासु। आऽहुतम्। घृतम्। पयः। अयम्। सः। वाम्। अश्विना। भागः। आ। गतम्। माध्वी इति। धर्तारा। विदथस्य। सत्पती इति सत्ऽपती। तप्तम्। घर्मम्। पिबतम्। रोचने। दिवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (उस्रियासु) गौवों में (घृतम्) घृत और (पयः) दूध (आहुतम्) दिया गया है, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (आ गतम्) आवो, (अयम् सः) वही (वाम्) तुम दोनों का (भागः) भाग [सेवनीय व्यवहार] है। (माध्वी) हे मधुविद्या [वेद विद्या] के जानने वाले, (विदथस्य) जानने योग्य कर्म के (धर्तारा) धारण करने वाले, (सत्पती) सत्पुरुषों के रक्षा करने वाले ! तुम दोनों (दिवः) सूर्य के (रोचने)

मणाः (गन्धर्वस्य) अ० २। १। २। भूमिधारकस्य सूर्यस्य (प्रति) प्रत्यक्षम् (आस्ना) मुखेन। प्रकाशेनेत्यर्थः (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३। १४ ॥

४—(यत्) यथा (उस्रियासु) अ० ४। २६। ५। गोषु (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (घृतम्) (पयः) दुग्धम् (अयम्) (सः) (वाम्) युवयोः (अश्विना) उत्तमस्त्रीपुरुषौ (भागः) सेवनीयो व्यवहारः (आ गतम्) आगच्छतम् (माध्वी) मधु+ई गतौ—क्विप्, छान्दसो दीर्घः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। मधु मधुविद्यां वेदविद्याम् ईयते जानीतो मध्व्यौ मधुविद्यावेदितारौ (धर्तारा) धारकौ (विदथस्य) अ० १। १३। ४। ज्ञातव्यस्य कर्मणः (सत्पती) सज्जनानां पालकौ (तप्तम्)

प्रकाश में (नक्षम्) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मम्) प्रकाशमान [धर्म] का (पिबतम्) पान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे गौ से घृत दुग्ध आदि सार पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष संसार के सब पदार्थों से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म विद्या का प्रकाश करके आनन्दित होवें ॥ ४ ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्। मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

तप्तः। वाम्। घर्मः। नक्षतु। स्व-होता। प्र। वाम्। अध्वर्युः। चरतु। पयस्वान्। मधोः। दुग्धस्य। अश्विना। तनायाः। वीतम्। पातम्। पयसः। उस्रियायाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों को (स्वहोता) धन देनेवाला, (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान धर्म (नक्षतु) व्याप्त होवे, (पयस्वान्) ज्ञानवान् (अध्वर्युः) अहिंसा कर्म चाहनेवाला [वह धर्म] (वाम्) तुम दोनों के लिये (प्रचरत्) प्रचरित होवे। तुम दोनों (तनायाः) उपकारी विद्या के (दुग्धस्य) परिपूर्ण (मधोः) मधु-

---

ऐश्वर्ययुक्तम् (घर्मम्) प्रकाशमानं धर्मम् (पिबतम्) स्वीकुरुतम् (रोचने) प्रकाशे (दिवः) सूर्यस्य ॥

५—(तप्तः) ऐश्वर्ययुक्तः (वाम्) युवाम् (घर्मः) प्रकाशमानो धर्मः (नक्षतु) व्याप्नोतु—निघ० २। १८। (स्वहोता) धनदाता (वाम्) युवाभ्याम् (अध्वर्युः) मृगय्वादयश्च। उ० १, ३७। अध्वर+या प्रापणे—कु। अथवा सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८ अध्वर-क्यच्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७० उप्रत्ययः, अलोपः। अहिंसाप्रापकः। अहिंसामिच्छुः। याजकः (प्रचरतु) प्रचरितो भवति (पयस्वान्) ज्ञानवान्(मधोः) मधुनः। मधुविद्यायाः (दुग्धस्य) प्रपूरितस्य (अश्विना) हे उत्तमस्त्रीपुरुषौ (तनायाः) तनु

विद्या [ईश्वरज्ञान] की (वीतम्) प्राप्ति करो और (पातम्) रक्षा करो, [जैसे] (उस्रियायाः) गऊ के (पयसः) दूध की [प्राप्ति और रक्षा करते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि वे धर्मनिष्ठ होकर विद्या प्राप्त करके सर्वहितकारी कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ५ ॥

उप॑ द्रव पय॑सा गोधुगोषमा घर्मे सि॑ञ्च पय॑ उस्रिया॑याः । वि नाक॑मख्यत् सविता वरे॑ण्योऽनुप्रयाण॑मुषसो वि रा॑जति ॥ ६ ॥

उप॑ । द्रव । पय॑सा । गो-धुक् । ओषम् । आ । घर्मे । सिञ्च । पय॑ः । उस्रिया॑याः । वि । नाक॑म् । अख्यत् । सविता । वरे॑ण्यः । अनु-प्रयान॑म् । उषसः॑ । वि । राजति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गोधुक्) हे विद्या के दोहने वाले विद्वान् ! (पयसा) विज्ञान से (ओषम्) अन्धकार दाहक व्यवहार को (घर्मे) प्रकाशमान यज्ञ के बीच (उप) आदर से (द्रव) प्राप्त हो, और (आ) सब ओर से (सिञ्च) सींच [जैसे] (उस्रियायाः) गऊ के (पयः) दूध को । (वरेण्यः) श्रेष्ठ (सविता) सब के चलानेवाले परमेश्वर ने (नाकम्) मोक्षसुख का (वि अख्यत्) व्याख्यान किया है, वही (उषसः) अन्धकार नाशक उषा के (अनुप्रयाणम्) निरन्तर गमन का (वि) विशेष करके (राजति) राजा होता है ॥ २ ॥

विस्तारे, तन उपकारे—पचाद्यच्, टाप् । उपकारिकाया विद्यायाः (वीतम्) प्राप्तिं कुरुतम् (पातम्) रक्षां कुरुतम् (पयसः) दुग्धस्य (उस्रियायाः) धेनोः ॥

६—(उप) सादरम् (द्रव) गच्छ । प्राप्नुहि (पयसा) ज्ञानेन (गोधुक्) विद्यादोहकः (ओषम्) उष दाहे—घञ् । अन्धकारदाहकं व्यवहारम् (आ) समन्तात् (घर्मे) प्रकाशमाने यज्ञे—निघ० ३ । १७ (सिञ्च) वर्धय (पयः) दुग्धम् (उस्रियायाः) गोः (नाकम्) मोक्षसुखम् (वि अख्यत्) ख्या प्रकथने—लुङ् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । पा० ३ । १ । ५२ । इति च्लेरङ् । व्याख्यातवान् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (वरेण्यः) श्रेष्ठः (अनुप्रयाणम्) निरन्तरप्रगमनम् (उषसः) अन्धकारदाहकस्य प्रभातप्रकाशस्य (वि) विशेषेण (राजति) राजयति । शास्ति ॥

भावार्थ—मनुष्य गऊ के दूध के समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रकाश करे। जैसे सूर्य का प्रकाश लगातार सब देशों पर चला आता है, उसी प्रकार परमात्मा ने सब के लिये मोक्ष का उपदेश वेद द्वारा किया है ॥ ६ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥

उप॑। ह्व॒ये॒। सु॒-दुघा॑म्। धे॒नुम्। ए॒ताम्। सु॒-हस्तः॑। गो॒-धुक्। उ॒त। दो॒ह॒त्। ए॒ना॒म्। श्रेष्ठ॑म्। स॒वम्। स॒वि॒ता। सा॒वि॒ष॒त्। नः॒। अ॒भि-इ॑द्धः। घ॒र्मः। तत्। ऊँ॒ इति॑। सु। प्र। वो॒च॒त् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सुदुघाम्) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करनेवाली (एताम्) इस (धेनुम्) विद्या को (उप ह्वये) मैं स्वीकार करता हूं, (उत) वैसेही (सुहस्तः) हस्तक्रिया में चतुर (गोधुक्) विद्या को दोहने वाला [विद्वान्] (एनाम्) इस [विद्या] को (दोहत्) दुहे। (सविता) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (सवम्) ऐश्वर्य को (नः) हमारे लिये (साविषत्) उत्पन्न करे। (अभीद्धः) सब ओर प्रकाशमान (घर्मः) प्रतापी परमेश्वर ने (तत् उ) उस सब को (सु) अच्छे प्रकार (प्र वोचत्) उपदेश किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य प्राप्त करें। जिस प्रकार परमेश्वर ने इसका उपदेश किया है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। २६।

७—(उप) सादरम् (ह्वये) स्वीकरोमि (सुदुघाम्) दुहः कब्घश्च। पा० ३। २। ७०। सु+दुह प्रपूरणे—कप्, हस्य घः। सुष्ठु कामप्रपूरिकाम् (धेनुम्) वाचम्। विद्याम्—म० २ (एताम्) (सुहस्तः) अत्यन्तहस्तक्रियाकुशलः (गोधुक्) विद्यादोहकः (उत) (दोहत्) लेट्रूपम्। दोग्धु (एनाम्) वाचम् (श्रेष्ठम्) (सवम्) ऐश्वर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (साविषत्) अ० ६। १। ३। उत्पादयेत् (नः) अस्मभ्यम् (अभीद्धः) सर्वतः दीप्तः (घर्मः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (तत्) पूर्वोक्तं सर्वम् (उ) (सु) (प्र) (वोचत्) ब्रूञ—लुङ्, अडभावश्छान्दसः। उपदिष्टवान् ॥

हिङ्-कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन् । दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ८ ॥

हिङ्-कृण्वती । वसु-पत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा । नि-आगन् । दुहाम् । अश्वि-भ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् । महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हिङ्कृण्वती) गति वा वृद्धि करने वाली, (वसुपत्नी) धन की रक्षा करने वाली, (वसूनाम्) श्रेष्ठों के बीच (वत्सम्) उपदेशक पुरुष को (इच्छन्ती) चाहने वाली [वेदवाणी] (मनसा) विज्ञान के साथ (न्यागन्) निश्चय करके प्राप्त हुई है । (इयम्) यह (अघ्न्या) हिंसा न न करने वाली विद्या (अश्विभ्याम्) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये, (पयः) विज्ञान को (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (सा) वही [विद्या] (महते) अत्यन्त (सौभाग्य) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । २७ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि

८—(हिङ्कृण्वती) हि गतिवृद्ध्योः—ड्डि । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती (वसुपत्नी) धनानां पालिका (वसूनाम्) श्रेष्ठानां मध्ये (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । वद कथने—सप्रत्ययः । उपदेशकम् (इच्छन्ती) कामयमाना (मनसा) विज्ञानेन (न्यगन्) गमेर्लुङि रूपम् । निश्चयेनागतवती (दुहाम्) दुहु लोटि, आत्मने पदम्, तलोपः । दुग्धाम् । प्रपूरयेत् (अश्विभ्याम्) स्त्रीपुरुषयोर्हिताय (पयः) विज्ञानम् (अघ्न्या) अ० ३ । ३० । १ । अहिंसिका वेदविद्या (इयम्) प्रसिद्धा (सा) (वर्धताम्) समृद्धा भवतु (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्याणां भावाय ॥

विद्वान्। विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्यं शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ९ ॥

जुष्टः। दमूनाः। अतिथिः। दुरोणे। इमम्। नः। यज्ञम्। उप। याहि। विद्वान्। विश्वाः। अग्ने। अभि-युजः। वि-हत्य। शत्रु-यताम्। आ। भर। भोजनानि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बिजुली सदृश उत्तम गुण वाले राजन्! (जुष्टः) सेवा किया गया वा प्रसन्न किया गया, (दमूनाः) शम दम आदि से युक्त, (अतिथिः) सदा गतिशील [महापुरुषार्थी], (विद्वान्) विद्वान् तू (नः) हमारे (दुरोणे) घर में वर्तमान (इमम्) इस (यज्ञम्) उत्तम दान को (उप याहि) सादर प्राप्त हो। और (शत्रुयताम्) शत्रु समान आचरण करने वालों की (विश्वाः) सब (अभियुजः) चढ़ाई करतीहुई सेनाओं को (विहत्य) अनेक प्रकार से मार कर (भोजनानि) पालन साधनों को (आ) सब ओर से (भर) धारण कर ॥ ९ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण धर्मात्मा पराक्रमी राजा को सदा प्रसन्न रक्खें, जिससे वह शत्रुओं को जीत कर प्रजापालन करता रहे ॥ ९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५।४।५ ॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु। सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥ १० ॥

९—(जुष्टः) सेवितः प्रीतो वा (दमूनाः) अ० ७। १४। ४। शमदमादियुक्तः (अतिथिः) अ० ७। २१। १। अतनशीलः। महापुरुषार्थी (दुरोणे) अ० ५। २। ६। गृहे वर्तमानम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) उत्तमपदार्थदानम् (उप) (याहि) (विद्वान्) (विश्वाः) समग्राः (अग्ने) विद्युदिव शुभगुणाढ्य राजन् (अभियुजः) अभियोक्त्रीः परसेनाः (विहत्य) विविधं हत्वा (शत्रुयताम्) अ० ३। १। ३। शत्रुवदाचरताम् (आ) समन्तात् (भर) धर (भोजनानि) पालनसाधनानि ॥

अग्ने । शर्धं । महते । सौभगाय । तवं । द्युम्नानि । उत्-तमानि । सन्तु । सम् । जाःपत्यम् । सु-यमम् । आ । कृणुष्व । शत्रु-यताम् । अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(शर्ध) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (महते) हमारे बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (तव) तेरे (द्युम्नानि) यश वा धन (उत्तमानि) अति ऊंचे (सन्तु) होवें । (जास्पत्यम्) [हमारे] पत्नी-पतिधर्म [गृहस्थ आश्रम] को (सुयमम्) सुन्दर नियम युक्त (सम् आ) बहुत ही भले प्रकार (कृणुष्व) कर, (शत्रुयताम्) शत्रुसमान आचरण करने वालों के (महांसि) बलों को (अभि तिष्ठ) परास्त कर दे ॥ १० ॥

भावार्थ—संयमी पुरुषार्थी स्त्री पुरुष बड़ा ऐश्वर्य, कीर्ति, बल प्राप्त करके शत्रुओं को जीत कर प्रजा पालन करें ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । २८ । ३ । और यजु०—३३ । १२ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ११

सुयवस-अत् । भगं-वती । हि । भूयाः । अधं । वयम् । भगं-वन्तः । स्याम । अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्व-दानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् । आ-चरन्ती ॥ ११ ॥

१०—(अग्ने) विद्वन् राजन् (शर्ध) शृधु उन्दे उत्साहे वा—पचाद्यच् । बलवन् । शर्धः=बलम्—निघ० २ । ९ । (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्याय (तव) (द्युम्नानि) अ० ६ । ३५ । ३ । धनानि यशांसि वा (उत्तमानि) उद्गततमानि । उन्नततमानि (सन्तु) (सम्) सम्यक् (जास्पत्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । जायापति—यक्, छान्दसो याशब्दलोपः सुडागमश्च । जायापत्यम् । पत्नीपतिधर्म (सुयमम्) ईषद्दुः-सुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । इति खल् । जितेन्द्रियत्वादिनियमयुक्तम् (आ) समन्तात् (कृणुष्व) कुरु (शत्रुयताम्) शत्रुवदाचरताम् (अभि तिष्ठ) आक्रमस्व । अभिभव (महांसि) तेजांसि । बलानि ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो !] (सुयवसात्) सुन्दर अन्न आदि भोगने वाली और (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (हि) ही (भूयाः) हो, (अध) फिर (वयम्) हमलोग (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें। (अघ्न्ये) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! (विश्वदानीम्) समस्त दानों की क्रिया का (आचरन्ती) आचरण करती हुई तू [हिंसा न करने वाली गौ के समान] (तृणम्) घास [अल्प मूल्य पदार्थ] को (अद्धि) खा और (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ४० ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-४ ॥ १, २ वैद्यः; ३ त्वष्टा; ४ जातवेदा देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ त्रिष्टुप्; ॥

शारीरिकमानसिकरोगनिवारणोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग हटाने का उपदेश ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम। मुनेर्दे-

११—(सुयवसात्) अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । सुयवस+अद भक्षणे-विट् । शोभनानि यवसानि अन्नादीनि अदन्ती प्रजा (भगवती) बह्वैश्वर्ययुक्ता (हि) अवधारणे (भूयाः) (अध) अथ । अनन्तरम् (भगवन्तः) बह्वैश्वर्ययुक्ताः (स्याम) भवेम (अद्धि) अशान (तृणम्) घासम् (अघ्न्ये) अहिंसिके (विश्वदानीम्) दानीं च । पा० ५ । ३ । १८ । विश्व—दानीं प्रत्ययः सप्तम्यर्थे । विश्वदानीम्=सर्वदा—निरु० ११ । ४४ । विश्वानि समग्राणि दानानि यस्यास्तां क्रियाम्, यथा दयानन्दभाष्ये ऋक्० १ । १६४ । ४० । (पिब) (शुद्धम्) पवित्रम् (उदकम्) जलम् (आचरन्ती) अनुतिष्ठन्ती ॥

वस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अप-चिताम्। लोहिनीनाम्। कृष्णा। माता। इति। शुश्रुम। मुनेः। देवस्य। मूलेन। सर्वाः। विध्यामि। ताः। अहम् ॥१॥

भाषार्थ—(लोहिनीनाम्) रक्तवर्ण (अपचिताम्) गण्डमाला आदि रोगों की (माता) माता (कृष्णा) काले रंग वाली है, (इति) यह (शुश्रुम) हमने सुना है। (अहम्) मैं (मुनेः) मननशील (देवस्य) विद्वान् वैद्य के (मूलेन) मूल ग्रन्थ से (ताः सर्वाः) उन सब को (विध्यामि) छेदता हूं ॥१॥

भावार्थ—गण्डमाला आदि चर्म रोगों में पहिले काले धब्बे पड़ते, फिर रक्त वर्ण होजाते हैं, सद्वैद्य बड़े बड़े वैद्यों के मूल ग्रन्थों से कारण समझकर उनका छेदन आदि करे, इसी प्रकार मनुष्य आत्म दोषों को हटावे ॥ १ ॥

(मूल) ओषधि विशेष भी है जिसे पीपलामूल कहते हैं ॥

इस सूक्त का मिलान अ० सू० ६। ८३ से करो ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्। इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

विध्यामि। आसाम्। प्रथमाम्। विध्यामि। उत। मध्यमाम्। इदम्। जघन्याम्। आसाम्। आ। छिनद्मि। स्तुकाम्-इव ॥२

भाषार्थ—(आसाम्) इन [गण्डमालाओं] में से (प्रथमाम्) पहिली

१—(अपचिताम्) अ० ६। ८३। १। गण्डमालादिरोगाणाम् (लोहिनीनाम्) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः। पा० ४। १। ३६। लोहित-ङीप्, तस्य च नः। रोहिणीनां रक्तवर्णानाम् (कृष्णा) कृष्णवर्णा (माता) जननी। उत्पादयित्री (इति) एवम् (शुश्रुम) लिटि रूपम्। वयं श्रुतवन्तः (मुनेः) मनेरुच्च। उ० ४। १२३। मनु अवबोधने—इन्। मननशीलस्य (देवस्य) विदुषो वैद्यस्य (मूलेन) मूलग्रन्थेन। निदानेन (सर्वाः) समस्ताः (विध्यामि) व्यध ताड़ने। विदारयामि (ताः) अपचितः (अहम्) वैद्यः ॥

२—(विध्यामि) छिनद्मि विदारयामि (आसाम्) अपचितां मध्ये (प्रथ-

को (विध्यामि) छेदता हूं, (उत) और (मध्यमाम्) बीचवाली को (विध्यामि) तोड़ता हूं। (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) नीचे वाली को (इदम्) अभी (आ) सब ओर (छिनद्मि) मैं छिन्न भिन्न करता हूं (इव) जैसे (स्तुकाम्) उनके बाल को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य रोगों के नाश करने में बहुत शीघ्रता करें ॥ २ ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वच॑सा वि त॑ ई॒र्ष्याम॑मीमदम्। अथो॒ यो म॒न्युष्टे॑ पते॒ तमु॑ ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण॑। अ॒हम्। वच॑सा। वि। ते॒। ई॒र्ष्याम्। अ॒मी॒म॒द॒म्। अथो॒ इति॑। यः। म॒न्युः। ते॒। प॒ते॒। तम्। ऊं॒ इति॑। ते॒। श॒म॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वाष्ट्रेण) सब के बनानेवाले परमेश्वर के (वचसा) वचन से (अहम्) मैंने (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (वि अमीमदम्) मद रहित करदिया है (अथो) और (पते) हे स्वामिन्! [परमेश्वर!] (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध है, (ते) तेरे (तम्) उसको (उ) अवश्य (शमयामसि) हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करे ॥ २ ॥

माम्) मुख्याम् (विध्यामि) (उत) (मध्यमाम्) (इदम्) इदानीम् (जघन्याम्) हन यङ्लुक्—अच्। पृषोदरादिरूपम् यद्वा। जघन—यत्, इत्वाथ्। अधमाम् (आसाम्) (आ) समन्तात् (छिनद्मि) भिनद्मि (स्तुकाम्) ष्टुच प्रसादे—क, टाप्, कुत्वम्। ऊर्णस्तुकाम्। रोमस्तोकमात्राम् (इव) यथा ॥

३—(त्वाष्ट्रेण) अ० २। ५। ६। त्वष्टृ—अण्। सर्वनिर्मातुः परमेश्वरस्य सम्बन्धिना (अहम्) जीवः (वचसा) वचनेन (ते) तव (ईर्ष्याम्) अ० ६। १८। १। परसम्पत्त्यसहनम्। मत्सरम् (वि अमीमदम्) विगतमदां कृतवानस्मि (अथो) अपि च (यः) (मन्युः) क्रोधः (ते) तव (पते) स्वामिन्। परमेश्वर (तम्) (उ) अवधारणे (ते) (शमयामसि) शमयामः। शान्तं कुर्मः ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते सम॑क्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजाव॑न्त उप॑ सदेम सर्वे॑ ॥४॥

व्रतेन॑ । त्वम् । व्रत-पते । सम्-अ॑क्तः । विश्वाहा॑ । सु-मना॑ः । दीदिहि । इह । तम् । त्वा । वयम् । जात-वेदः । सम्-इद्धम् । प्रजा-व॑न्तः । उप॑ । सदेम । सर्वे॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(व्रतपते) हे उत्तम नियमों के रक्षक परमेश्वर ! [वा विद्वान् !] (त्वम्) तू (व्रतेन) उत्तम नियम से (समक्तः) संगति करता हुआ (सुमनाः) प्रसन्न चित्त होकर (विश्वाहा) सब दिन (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध बुद्धि वा धन वाले ! (प्रजावन्तः) उत्तम प्रजाओं वाले (सर्वे वयम्) हम सब लोग (समिद्धम्) अच्छी भांति प्रकाशमान (तम् त्वा) उस तुझको (उप सदेम) पूजा करते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के वेदोक्त धर्मों पर चलकर सामाजिक उन्नति करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-२ ॥ प्रजा देवताः ॥ १ त्रिष्टुप्; २ मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

सामाजिकोन्नत्युपदेशः—सामाकि उन्नति का उपदेश ॥

प्रजाव॑तीः सूयव॑से रुशन्तीः शुद्धा अपः सु॑प्रपाणे पिब॑-

४—(व्रतेन) अ० २ । ३० । २ । वरणीयेन नियमेन (त्वम्) (व्रतपते) सत्कर्मणां पालक परमेश्वर विद्वन् वा (समक्तः) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । संगतः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति वलोपः दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (तम्) (त्वा) (वयम्) (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धप्रज्ञ । प्रसिद्धधन (समिद्धम्) सम्यग्दीप्तम् (प्रजावन्तः) प्रशस्तपुत्रपौत्रभृत्यादिसहिताः (उप सदेम) पद्लृ विशरणगत्यादिषु—लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इत्यङ् । उपसद्यास्म । परिचर्यास्म (सर्वे) ॥

न्तीः । मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजा-वतीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्रपाने । पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघ-शंसः । परि । वः । रुद्रस्य । हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ !] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतने वाला, डाकू उचक्का आदि [वश में करे], (रुद्रस्य) पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें, जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥१॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । २१ । ७ ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः । उप मा देवीर्देवेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥२

पद-ज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम् । हिताः । विश्व-नाम्नीः । उप । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इत । इमम् । गो-स्थम् । इदम् । सदः । घृतेन । अस्मान् । सम् । उक्षत ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ ! तुम] (पदज्ञाः) पगडंडी [वा अपने पद] को

१—शब्दार्थो यथा, अ० ४ । २१ । ७ ॥

२—(पदज्ञाः) पदचिह्नस्य स्थानस्य वा ज्ञातारः (स्थ) भवथ (रम-

जानने वाली, (रमतयः) क्रीड़ा करने वाली, (संहिताः) यथावत् हित करने वाली वा परस्पर मिली हुई और (विश्वनाम्नीः) व्याप्तनामवाली (स्थ) हो। (देवीः) हे दिव्य गुण वाली देवियो ! (देवेभिः) उत्तम गुणों के साथ (मा) मुझ को (उप) समीप से (आ इत) प्राप्त होवो। (इमम्) इस (गोष्ठम्) वाचनालय को, (इदम्) इस (सदः) बैठक को और (अस्मान्) हमको (घृतेन) प्रकाश से (सम्) यथावत् (उक्षत) बढ़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के मार्ग और अपनी स्थिति को जान कर परस्पर हित करके सामाजिक उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-६ ॥ १-५ वैद्यः; ६ इन्द्रो देवता ॥ १,३-५ अनुष्टुप्; २ द्विपदा जगती; ६ त्रिष्टुप् ॥

१-५ रोगनाशस्य, ६ मनुष्यधर्मस्योपदेशः। १-५ रोग नाश और ६ मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः। सेहोरसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

आ। सु-स्रसः। सु-स्रसः। असतीभ्यः। असत्-तराः। सेहोः। अरस-तराः। लवणात्। वि-क्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आ) सब ओर से (सुस्रसः) बहुत बहनेवाले पदार्थ से

तयः) अ० ६। ७३। २। रमयित्र्यः (संहिताः) सम्+धा धारणे वा हि गतौ–क। सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यासां ताः परस्परसंगता वा (विश्वनाम्नीः) वा च्छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। व्याप्तनामधेयाः (उप) समीपे (मा) माम् (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणाः (देवेभिः) उत्तम-गुणैः (आ इत) आगच्छत (इमम्) (गोष्ठम्) वाचस्तिष्ठन्त्यत्र। वाचनालयम् (इदम्) (सदः) सदनम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्) (सम्) सम्यक् (उक्षत) उक्षितः, महन्नाम—निघ० ३। ३। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२। ६। वर्धयत ॥

१—(आ) समन्तात् (सुस्रसः) सु+स्रंसु पतने—क्विप्। अनिदितां

(सुस्रसः) बहुत बहनेवाली और (असतीभ्यः) बहुत बुरी [पीड़ाओं] से (असत्तराः) अधिक बुरी, (सेहोः) सेहु [नीरस वस्तु विशेष] से (अरसतराः) नीरस [शुष्कस्वभाव] और (लवणात्) लवण से (विक्लेदीयसीः) अधिक गल जानेवाली [गण्डमालाओं] को [नष्ट करदिया है—म०३] ॥ १ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ तथा २ का सम्बन्ध (निर्हाः) "नष्ट करदिया है" क्रिया मन्त्र ३ के साथ है। जैसे गंडमालायें कभी सूख जातीं, कभी हरी हो जाती हैं, ऐसी ही कुवासनायें कभी निर्बल और कभी सबल हो जाती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या॑ अप॒चितोऽथो॒ या उ॑पप॒क्ष्याः॑। वि॒जाम्नि॒ या अ॑प॒चितः॑ स्वयं॒स्रसः॑ ॥ २ ॥

याः। ग्रैव्याः॑। अ॒प॒ऽचितः॑। अथो॒ इति॑। याः। उ॒प॒ऽप॒क्ष्याः॑। वि॒ऽजाम्नि॑। याः। अ॒प॒ऽचितः॑। स्व॒यम्ऽस्रसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ग्रैव्याः) गले पर (अथो) और (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्खों [कन्धों] के जोड़ों पर (अपचितः) गण्डमालायें [फुड़ियां] हैं। और (याः) जो (स्वयंस्रसः) अपने आप बहने वाली (अपचितः)

हल उपधाया क्ङिति। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। अतिस्रवणशीलात्पदार्थात् (सुस्रसः) अत्यर्थं स्रवणशीलाः (असतीभ्यः) दुष्टाभ्यः (असत्तराः) अधिकदुष्टाः (सेहोः) भृमृशीङ्० । उ० १। ७। पिञ् बन्धने—उ, हुगागमः। सेहुनामनिःसारपदार्थविशेषात् (अरसतराः) अधिकशुष्काः (लवणात्) नन्दिग्रहिपचादि०। पा० ३। १। १३४। लूञ् छेदने—ल्यु। सैन्धवादिक्षाररसभेदात् (विक्लेदीयसीः) क्लिदू आर्द्रीभावे—घञ्। विविधः क्लेदो यासां ताः विक्लेदाः। तत ईयसुन्, ङीप्। शसि रूपम्। अधिकस्रवणशीलाः ॥

२—(याः) (ग्रैव्याः) अ० ६। २५। २। ग्रीवासु गलप्रदेशेषु भवा नाड्यः (अपचितः) अ० ६। ८३। १। गंडमालादिपीडाः (याः) (उपपक्ष्याः) उपपक्ष—यत्। उपपक्षे स्कन्धसन्धौ भवाः (विजाम्नि) विविधं जायते विजामा। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। वि+जनी प्रादुर्भावे—मनिन्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। आत्वम्। गुह्यप्रदेशे

फुंसियां (विजाम्नि) गुह्य स्थान पर हैं [उनको नष्ट दिया है—म० ३] ॥ २ ॥

भावार्थ—दुःखदायी रोगों को वैद्य लोग नष्ट करें ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

यः । कीकसाः । प्र-शृणाति । तलीद्यम् । अव-तिष्ठति । निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षय रोग] (कीकसाः) हंसली की हड्डियों को (प्रशृणाति) तोड़ देता है और (तलीद्यम्) हथेली और तलवे के चर्म पर (अवतिष्ठति) जम जाता है । (च) और (यः) जो (कः) कोई (ककुदि) शिर में (श्रितः) ठहरा हुआ है, (तम्) उस (सर्वम्) सब (जायान्यम्) क्षय रोग को [उस वैद्य ने] (निः) निरन्तर (हाः) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य रोगों के लक्षण जान कर उचित चिकित्सा करे ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् । तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सु-क्षतस्य । च ॥ ४ ॥

(याः) (अपचितः) (स्वयंस्रसः)—म० १ । व्रणरूपेण स्वयं स्रवणशीलाः ॥

३—(यः) जायान्यः (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि (प्रशृणाति) प्रच्छिनत्ति (तलीद्यम्) हसृरुहि० । उ० १ । ९७ । तल प्रतिष्ठायाम्—इतिप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । यत् । तलिति तले करतलपदतले भवं चर्म (अवतिष्ठति) आश्रयति (निः) निरन्तरम् (हाः) अ० ६ । १०३ । २ । हञ् नाशने—लुङ् । अहाः । अहार्षीत् । नाशितवान् स वैद्य इति शेषः (तम्) (सर्वम्) (जायान्यम्) वदेरान्यः । उ० ३ । १०४ । जै क्षये—आन्य । क्षयम् । राजरोगम (यः) (कः) (च) (ककुदि) अ० ३ । ४ । २ । उत्तमाङ्गे । शिरसि (श्रितः) अवस्थितः ॥

भाषार्थ—(पक्षी) पंख वाला [उड़ाऊ] (जायान्यः) क्षयरोग (पतति) उड़ता है, (सः) वह (पूरुषम्) पुरुष में (आ विशति) प्रवेश कर जाता है। (तत्) यह (अक्षितस्य) भीतर व्यापे हुये (च) और (सुक्षतस्य) बहुत फोड़ों वाले, (उभयोः) दोनों प्रकार के [क्षयरोग] की (भेषजम्) ओषधि है ॥ ४ ॥

भावार्थ--सद्वैद्य भीतरी और बाहिरी लक्षणों से रोग की पहिचान कर निवृत्ति करे ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।
कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृण्मः । हविः । गृहे ॥५॥

भाषार्थ—(जायान्य) हे क्षयरोग ! (वै) निश्चय करके (ते) तेरा (जानम्) जन्मस्थान (विद्म) हम जानते हैं, (यतः) जहां से, (जायान्य) हे क्षयरोग ! (जायसे) तू उत्पन्न होता है। (त्वम्) तू (तत्र) वहां पर (कथम् ह) किस प्रकार से ही [मनुष्य को] (हनः) मार सकता है, (यस्य) जिसके (गृहे) घर में (हविः) ग्राह्य कर्म को (कृण्मः) हम करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रोगों का कारण जान कर पथ्य का सेवन और कुपथ्य का त्याग करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं ॥५॥

४—(पक्षी) पक्षवान्। शीघ्रगतिः (जायान्यः) म० ३ । क्षयरोगः (पतति) शीघ्रं गच्छति (सः) (आविशति) प्रविशति (पूरुषम्) पुरुषम्। शरीरम् (तत्) (अक्षितस्य) अक्षू व्याप्तौ—क्त । अन्तर्व्याप्तस्य क्षयस्य (भेषजम्) औषधम् (उभयोः) अक्षितसुक्षतयोः (सुक्षतस्य) क्षणु हिंसायाम् —क्त । बहुव्रणयुक्तस्य ॥

५—(विद्म) जानीमः (वै) अवश्यम् (ते) तव (जायान्य) म० ३। हे क्षयरोग (जानम्) जन—घञ् । जन्मस्थानम् (यतः) यस्मात् (जायान्य) (जायसे) उत्पद्यसे (कथम्) केन प्रकारेण (ह) अवश्यम् (तत्र) (त्वम्) (हनः) हन्तेर्लेटि अडागमः। हन्याः पुरुषम् (यस्य) पुरुषस्य (कृण्मः) कुर्मः (हविः) ग्राह्यं पथ्यं कर्म (गृहे) ॥

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्। माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

धृषत्। पिब। कलशे। सोमम्। इन्द्र। वृत्र-हा। शूर। सम्-अरे। वसूनाम्। माध्यन्दिने। सवने। आ। वृषस्व। रयि-स्थानः। रयिम्। अस्मासु। धेहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(धृषत्) हे निर्भय ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (वसूनाम्) धनों के निमित्त (समरे) युद्ध में (वृत्रहा) शत्रुनाशक हो कर (कलशे) [संसाररूप] कलस में [वर्तमान] (सोमम्) अमृत रस को (पिब) पी। (माध्यन्दिने) मध्य दिन के (सवने) काल वा स्थान में (आ वृषस्व) सब प्रकार बली हो, (रयिस्थानः) धनों का स्थान तू (रयिम्) धन को (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि पथ्य कर्मों से स्वस्थ, बलवान् और मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी होकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन संचय करके सब को सुखी रक्खे ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ४७। ६॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

वीराणां कर्तव्योपदेशः—वीरों के कर्त्तव्य का उपदेश॥

६—(धृषत्) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—शतृ, छान्दसः शः। हे प्रगल्भ (पिब) (कलशे) अ० ३। १२। ७। संसाररूपे घटे वर्तमानम् (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जीव (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (शूर) वीर (समरे) रणे (वसूनाम्) धनानां निमित्ते (माध्यन्दिने) अ० ७। ७२। ३। मध्याह्ने भवे (सवने) अ० ७। ७२। ३। काले स्थाने वा (आ) सर्वतः (वृषस्व) बली भव (रयिस्थानः) रायो धनानि तिष्ठन्ति यस्मिन्त्सः (रयिम्) धनम् (अस्मासु) (धेहि) धर॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्-तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन । अस्माक । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सांतपनाः) हे बड़े ऐश्वर्य में रहने वाले ! (रिशादसः) हे हिंसकों के मारने वाले (मरुतः) शूर विद्वान् मनुष्यो ! (अस्माक) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये (इदम्) इस और (तत्) उस (हविः) ग्रहणयोग्य योग्य कर्म का (जुजुष्टन) स्वीकार करो ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी विद्वान् मनुष्य प्रजा की पुकार को सब प्रकार सुनकर रक्षा करें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २० । १ । से करो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । ५६ । ६ ।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति । द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥ २ ॥

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुः-हृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति । द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन । तम् ॥ २ ॥

१—(सांतपनाः) सम्+तप ऐश्वर्ये—ल्युट् । तत्र भवः । पा० ४ । ३ । ५३ । अण् । संतपने पूर्णैश्वर्ये भवा वर्तमानाः (इदम्) समीपस्थम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (तत्) दूरस्थम् (जुजुष्टन) जुषतेः शपः श्लुः, तस्य तनादेशश्च । स्वीकुरुत (अस्माक) अस्माकम् (ऊती) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । ऊतये रक्षार्थम् (रिशादसः) अ० २ । २८ । २ । हिंसकानां हिंसकाः ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे वसाने वाले (मरुतः) शूरो ! (यः) जो (दुर्हृणायुः) अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ (मर्तः) मनुष्य (चित्तानि) हमारे चित्तों के (तिरः) आड़े होकर (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है। (सः) वह [हमारे लिये] (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट] के (पाशान्) फन्दों को (प्रति) प्रत्यक्ष (मुञ्चताम्) छोड़ देवे, (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तपाने वाले (तपसा) ऐश्वर्य वा तुपक आदि हथियार से (हन्तन) मारडालो ॥२

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७।५६।८॥

सं॒व॒त्स॒री॒णा म॒रुतः॑ स्व॒र्का उ॑रु॒क्ष॑याः॒ सग॑णा॒ मानु॑षासः। ते अ॒स्मत् पाशा॒न् प्र मु॑ञ्च॒न्त्वेन॑सः सांतप॒ना म॑त्स॒रा मा॑दयि॒ष्णवः॑॥ ३ ॥

स॒म्-व॒त्स॒री॒णाः॑। म॒रुतः॑। सु॒-अ॒र्काः। उ॒रु-क्ष॑याः। स-ग॑णाः। मानु॑षासः। ते। अ॒स्मत्। पाशा॑न्। प्र। मु॒ञ्च॒न्तु॒। एन॑सः। सा॒म्-त॒प॒नाः। म॒त्स॒राः। मा॒द॒यि॒ष्णवः॑॥ ३ ॥

भाषार्थ—(संवत्सरीणाः) पूरे निवास काल तक [जीवन भर] प्रार्थना किये गये, (स्वर्काः) बड़े वज्रों वाले (उरुक्षयाः) बड़े घरों वाले, (सगणाः)

२—(यः) (नः) अस्मान् (मर्तः) मनुष्यः (मरुतः) हे शूरगणाः (दुर्हृणायुः) हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा-निघ० २।१२। हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-क। छन्दसीणः। उ० १। २। हृण+इण् गतौ—उण्। दुर्हृणं दुष्टं क्रोधं गतः। प्राप्तक्रोधः (तिरः) तिरस्कृत्य। उल्लङ्घ्य (चित्तानि) अन्तःकरणानि (वसवः) हे वासयितारः (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (द्रुहः) द्रोहस्य। अनिष्टस्य (पाशान्) बन्धान् (प्रति) प्रत्यक्षम् (मुञ्चताम्) त्यजतु (सः) शत्रुः (तपिष्ठेन) तापयितृतमेन (तपसा) ऐश्वर्येण तापकेनायुधेन वा (हन्तन) तस्य तनप्। हत ॥

३—(सम्वत्सरीणाः) संपूर्वाच्चित्। उ० ३।७२। सम्+वस निवासे-सरन्। सः स्यार्धधातुके। पा० ७।४।४९। सस्य तत्वम्। संपरिपूर्वात् ख

सेनाओं वाले, (मानुषासः) मनन शील (मरुतः) शूर पुरुष हैं । (ते) वे (सांतपनाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (मत्सराः) प्रसन्न रहने वाले, (मादयिष्णवः) प्रसन्न रखने वाले पुरुष (अस्मत्) हम से (एनसः) पाप के (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्चन्तु) छुड़ा देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे शूर वीर पुरुष धन्य हैं जो प्रसन्नता से पुरुषार्थ करके सब को क्लेशों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-२ अग्निर्देवता ॥ १स्वराड् गायत्री; २ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ।

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । नि-योज-नम् । इह । एव । त्वम् । अजस्रः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (ते) तेरी ।(रशनाम्) रसरी को, (योक्त्रम्) जोते वा डोरी को और (नियोजनम्) बन्धन गांठ को (वि) विशेष करके (वि) विविध प्रकार (वि मुञ्चामि) मैं खोलता हूं । (अग्ने) हे अग्नि [स-

च । पा० ५ । १ । ६२ । संवतसर—ख, अभीष्टार्थे । सम्वत्सरं सम्यग् निवासकालमधीष्टाः प्रार्थिताः (मरुतः)-म० १ । शूराः (स्वर्काः) अ० ७ । २४ । १ सुवज्रिणः (उरुक्षयाः) क्षि निवासगत्योरैश्वर्ये च विस्तीर्णगृहाः (सगणाः) सैन्यैः सहिताः (मानुषासः) अ० ४ । १४ । ५ । असुक् । मनुर्मननं येषां ते (ते) मरुतः (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (प्र) (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (एनसः) पापस्य (सांतपनाः)-म० १ । पूर्णैश्वर्यवन्तः (मत्सराः) अ० ४ । २५ । ६ । मदी हर्षे—सरन् । हृष्टाः । प्रसन्नाः (मादयिष्णवः) णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । मादयतेः—इष्णुच् । हर्षकराः ॥

१—(वि मुञ्चामि) वियोजयामि (ते) तव (रशनाम्) आध्यात्मिकक्लेशरूपां रज्जुम् (वि) विशेषेण (योक्त्रम्) अ० ३ । ३० । ६ । आधिभौतिकरूपं बन्धनसाधनम् (इह) अस्मिन् संसारे (एव) निश्चयेन (त्वम्) आत्मा

मान बलवान् आत्मा !] (इह) यहां पर (एव) ही (त्वम्) तू (अजस्रः) दुःख रहित होकर (एधि) रह ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी योगी जन तीन गाठों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं, वे संसार में रह कर सब को सुखी रखते हैं ॥ २ ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन । दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनज्मि । त्वा । ब्रह्मणा । दैव्येन । दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । प्र । इमम् । वोचः । हविः-दाम् । देवतासु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [तुल्य पराक्रमी आत्मा !] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (क्षत्राणि) अनेक बलों को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (त्वा) तुझको (दैव्येन) परमेश्वर से पाये हुये (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (युनज्मि) मैं नियुक्त करता हूं । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन (भद्रम्) आनन्द से (दीदिहि) प्रकाशित कर, (इमम्) इस [मनुष्य] को (देवतासु) विद्वानों के बीच (हविर्दाम्) देने योग्य पदार्थ

(अजस्रः) नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः । पा० ३ । २ । १६७ । नञ् + जसु हिंसायाम्—रप्रत्ययः । अहिंसितः (एधि) भव (अग्ने) अग्निवद् बलवन्नात्मन् ॥

२—(अस्मै) प्राणिने (क्षत्राणि) अ० २ । १५ । ४ । बलानि (धारयन्तम्) धरन्तम् (अग्ने) अग्नितुल्यपराक्रमिन्नात्मन् (युनज्मि) योजयामि (त्वा) त्वाम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (दैव्येन) अ० २ । २ । २ । परमेश्वर सम्बद्धेन (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । अन्तर्गतण्यर्थः । संदीपय (अस्मभ्यम्) (द्रविणा) अ० २ । २९ । ३ । धनानि (इह) अस्मिन् संसारे (भद्रम्) यथा तथा सुखेन (प्र) प्रकर्षेण (वोचः) लुङि रूपम् । अवोचः । सूचितवानसि

का देने वाला (प्र वोचः) तू ने सूचित किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य योगाभ्यास आदि शुभ गुणों से अपने बलों को बढ़ा कर परोपकारी हो कर कीर्त्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-४ ॥ अमावास्या देवता ॥ १, ३ ४ त्रिष्टुप्; २ विराट् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यत् ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन् भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा । तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ १ ॥

यत् । ते॒ । दे॒वाः । अकृ॑ण्वन् । भा॒ग॒-धेय॑म् । अमा॑-वास्ये । सम्-वस॑न्तः । म॒हि॒-त्वा । तेन॑ । नः॒ । य॒ज्ञम् । पि॒पृ॒हि॒ । वि॒श्व॒वा॒रे॒ । र॒यिम् । नः॒ । धे॒हि॒ । सु॒-भ॒गे॒ । सु॒-वीर॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या ! [सब के साथ बसी हुई शक्ति परमेश्वर !] (यत्) जिस कारण से (ते) तेरी (महित्वा) महिमा से (संवसन्तः) यथावत् बसते हुये (देवाः) विद्वानों ने (भागधेयम्) अपना सेवनीय काम (अकृण्वन्) किया है। (तेन) उसी से, (विश्ववारे) हे सब से स्वीकार करने योग्य शक्ति ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरा कर, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (नः) हमें (सुवी-

---

(हविर्दाम्) ददातेः—क्विप् । दातव्यस्य दातारम् (देवतासु) विद्वत्सु ॥

१—(यत्) यस्मात्कारणात् (ते) तव (देवाः) विद्वांसः (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकुर्वन् (भागधेयम्) सेवनीयं व्यवहारम् (अमावास्ये) अमावस्यदन्यतरस्याम् । पा० ३ । १ । १२२ । अमा+वस आच्छादने निवासे च—ण्यत्, टाप् । अमा सर्वैः सह वसति सा अमावास्या तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वैःसह निवासशीले शक्ते परमात्मन् (संवसन्तः) वस-शतृ ।

रम्) बड़े वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्ये, संवसन्तः) पद [वस- रहना, ढाकना] धातु से बने हैं। विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में आश्रय लेकर सृष्टि के सब पदार्थों से उपकार करके सब को वीर, पुरुषार्थी और धनी बनावें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका—अ० ७। २०। ४ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे। मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥२

अहम्। एव। अस्मि। अमा-वास्या। माम्। आ। वसन्ति। सु-कृतः। मयि। इमे। मयि। देवाः। उभये। साध्याः। च। इन्द्र-ज्येष्ठाः। सम्। अगच्छन्त। सर्वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (अमावास्या) अमावास्या [सबके साथ वसी हुई शक्ति] (अस्मि) हूं, (मयि) मुझ में [वर्तमान होकर] (इमे) यह सब (सुकृतः) सुकर्मी लोग (माम्) लक्ष्मी में (आ वसन्ति) यथावत् वास करते हैं। (मयि) मुझ में (उभये) दोनों प्रकार के (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ अर्थात् (साध्याः) साधने योग्य [स्थावर] (च और (इन्द्रज्येष्ठाः) जीव को प्रधान रखने वाले [जंगम] पदार्थ (सम् = समेत्य) मिलकर (आगच्छन्त) प्राप्त हुये हैं ॥ २ ॥

सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४। २। २। महत्त्वेन। अन्यद् गतम्—अ० ७। २०। ४ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (एव)(अस्मि) (अमावास्या) म० १। सर्वैः सह निवासशीला शक्तिः (माम्) इन्दिरा लोकमाता मा—अमरः १। २९। लक्ष्मीम् (आ वसन्ति) उपान्वध्याङ्वसः। पा० १। ४। ४८। अधिकरणस्य कर्मता। समन्ताद् अवतिष्ठन्ते (सुकृतः) सुकर्माणः (मयि) (देवाः) दिव्यपदार्थाः (उभये) अ० ४। ३१। ६। द्विविधाः, चराचराः (साध्याः) अ० ७। ५। १। साधनीयाः। स्थावराः (इन्द्रज्येष्ठाः) जीवप्रधानाः। जङ्गमाः (सम्) समेत्य (अगच्छन्त) प्राप्तवन्तः (सर्वे) समस्ताः ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्या, वसन्ति) पद [वस-रहना, ढांकना] धातु से बने हैं। परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि वह अन्तर्यामी होकर समस्त, चर और अचर संसार को अपने वश में रखता है॥२॥

यजुर्वेद अ० ४० म० १ में ऐसा वचन है।

ई॒शा वा॒स्य॑मि॒द्ꣳ सर्वं॒ यत् किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त् ॥

(इदम् सर्वम्) यह सब, (यत् किंच) जो कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) जगत् है, (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) बसा हुआ है॥

आग॑न् रात्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नामू॒र्जं॑ पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती। अ॒मा॒वा॒स्या॒यै ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न् ॥ ३ ॥

आ। अ॒ग॒न्। रात्री॑। स॒म्-गम॑नी। वसू॑नाम्। ऊर्जम्। पु॒ष्टम्। वसु॑। आ॒-वे॒शय॑न्ती। अ॒मा॒-वा॒स्या॒यै। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒। ऊर्जम्। दुहा॑ना। पय॑सा। नः॒। आ। अ॒ग॒न् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(वसूनाम्) निवास स्थानों [लोकों] का (संगमनी) संयोग करने वाली, (ऊर्जम्) पराक्रम और (पुष्टम्) पोषण और (वसु) धन (आवेशयन्ती) दान करती हुई (रात्री) सुख देने वाली शक्ति (आ अगन्) आई है। (अमावास्यायै) उस अमावास्या [सब के साथ वास करने वाली शक्ति, परमेश्वर] को (हविषा) आत्मदान [पूरण भक्ति] से (विधेम) हम पूजें, (ऊर्जम्) पराक्रम को (पयसा) ज्ञान के साथ (दुहाना) पूरण करती हुई वह (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हुई है॥ ३॥

३—(आ अगन्) अ० २। ६। ३। आगता (रात्री) अ० १। १६। १। रा दाने—त्रिप्, ङीप्। सुखदात्री (संगमनी) संयोजयित्री (वसूनाम्) निवासस्थानानां लोकानाम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (पुष्टम्) पोषणम् (वसु) धनम् (आवेशयन्ती) प्रयच्छन्ती (अमावास्यायै)—म० १। सर्वैः सह निवासशीलायै (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरेम (ऊर्जम्) (दुहाना) प्रपूरयन्ती (पयसा) पय गतौ—असुन्। ज्ञानेन (नः) अस्मान् (आ अगन्)॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावास्यायै, वसूनाम्, वसु) पद [वस रहना] धातु से बने हैं। जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से पुरुषार्थ और भक्ति के साथ उपकार लेते हैं, वे ही ऐश्वर्यवान् होते हैं॥ ३॥

अमा॑वास्ये॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान। यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥ ४॥

अमा-वास्ये। न। त्वत्। एतानि। अ॒न्यः। विश्वा। रूपाणि। परि-भूः। ज॒जान॒। यत्-कामाः। ते॒। जु॒हु॒मः। तत्। न॒ः। अ॒स्तु॒। व॒यम्। स्या॒म॒। पत॑यः। र॒यी॒णाम्॥ ४॥

भाषार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या! [सब के साथ निवास करने वाली शक्ति, परमेश्वर!] (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक होकर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें॥ ४॥

भावार्थ—परमेश्वर ही अनुपम, सर्वशक्तिमान् और सब सृष्टि का कर्ता है, उसी की शरण लेकर विद्या सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें॥ ४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १०। १२१। १०। और यजुर्वेद—अ० २३। ६५॥

४—(अमावास्ये)—म० १। सर्वैः सह निवासशीले (न) निषेधे (त्वत्) त्वत्तः (एतानि) दृश्यमानानि (अन्यः) भिन्नः (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) मूर्तानि वस्तूनि (परिभूः) भू प्राप्तौ—क्विप्। व्यापकः (जजान) जन जनने—लिट्। उत्पादयामास (यत्कामाः) यद्वस्तु कामयमानाः (ते) तव (जुहुमः) हु दानादानयोः। स्वीकारं कुर्मः (तत्) कमनीयं वस्तु (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (वयम्) (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) धनानाम्॥

सूक्तम् ८० ॥

१-४ ॥ पौर्णमासी देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय । तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः । पौर्ण-मासी । जिगाय । तस्याम् । देवैः । सम्-वसन्तः । महि-त्वा । नाकस्य । पृष्ठे । सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पश्चात्) पीछे (पूर्णा) पूर्ण, (पुरस्तात्) पहिले (उत) और (मध्यतः) मध्य में (पूर्णा) पूर्ण (पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय वा आकारवान् पदार्थों की आधारशक्ति, परमेश्वर] (उत् जिगाय) सब से उत्कृष्ट हुई है । (तस्याम्) उस [शक्ति] में (देवैः) उत्तम गुणों और (महित्वा) महीमा के साथ (संवसन्तः) निवास करते हुये हम (नाकस्य) सुख की (पृष्ठे) ऊंचाई पर [वा सिंचाई में] (इषा) पुरुषार्थ से (सम्) यथावत् (मदेम) आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—(पूर्णा) समग्रा (पश्चात्) सृष्टेः पश्चात् (उत) अपि (पूर्णा) (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (उत्) उत्तमतया (मध्यतः) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ५ । ३ । १४ । इति सप्तम्यर्थे तसिल् । मध्ये । सृष्टिकाले (पौर्णमासी) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । माङ् माने—असुन् । सास्मिन्पौर्णमासीति । पा० ४ । २ । २१ । इति पूर्णमास्-अण् । पूर्णाः सम्पूर्णा मासः परिच्छेद्याः पदार्था यस्मिन् स पौर्णमासः, स्त्रियां ङीप् । सम्पूर्णपरिच्छेद्यपदार्थाधारा शक्तिः परमेश्वरः (जिगाय) उत्कृष्टा बभूव (तस्याम्) पौर्णमास्याम् (देवैः) उत्तमगुणैः (संवसन्तः) सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महिम्ना (नाकस्य) सुखस्य (पृष्ठे) पृषु सेचने-थक् । उपरिभागे सेचने वा (सम्) सम्यक् (इषा) इष गतौ-क्विप् । उपायेन (मदेम) हृष्येम ॥

भावार्थ—परमेश्वर सृष्टि से पहिले और पीछे और मध्य में वर्तमान और सर्वोत्कृष्ट है, उसी के आश्रय से मनुष्य उत्तम गुणी होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्ण-मासम् । यजामहे । सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुप-दस्वतीम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, (वाजिनम्) महाबलवान् (पौर्णमासम्) पौर्णमास [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों के आधार परमेश्वर] को (यजामहे) पूजते हैं। (सः) वह (नः) हमें (अक्षिताम्) बिना घटी हुई और (अनुपदस्वतीम्) बिना घटने वाली (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) देवे ॥ २

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके पुरुषार्थ के साथ ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजा-पते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परि-भूः । जजान । यत्-कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ३ ॥

२—(वृषभम्) अ० ४ । ५ । १ । सर्वश्रेष्ठम् (वाजिनम्) महाबलिनम् (वयम्) (पौर्णमासम्)-म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारं परमेश्वरम् (यजामहे) पूजयामः (सः) पौर्णमासः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) (अक्षिताम्) अक्षीणाम् (रयिम्) सम्पत्तिम् (अनुपदस्वतीम्) उपभोगेऽपि क्षयरहिताम् ॥

भावार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक हो कर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥३

भावार्थ—यह मन्त्र अ० ७। ७६। ४। में आ चुका है, (अमावास्ये) के स्थान पर यहां (प्रजापते) पद है, भावार्थ समान है ॥ ३ ॥

३—(प्रजापते) हे प्रजापालक। अन्यद् गतम्–अ० ७। ७६। ४॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु। ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्ण-मासी। प्रथमा। यज्ञिया। आसीत्। अह्नाम्। रात्रीणाम्। अति-शर्वरेषु। ये। त्वाम्। यज्ञैः। यज्ञिये। अर्धयन्ति। अमी इति। ते। नाके। सु-कृतः। प्र-विष्टाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—(पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों की आधार शक्ति] (अह्नाम्) दिनों के बीच और (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरेषु) अत्यन्त अन्धकारों में (प्रथमा) पहिली (यज्ञिया) पूजा योग्य (आसीत्) हुई है। (यज्ञिये) हे पूजायोग शक्ति ! (ये) जो (त्वाम्) तुझे (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से (अर्धयन्ति) पूजते हैं, (अमी) यह सब [वर्तमान] और (ते) वे [आगे और पीछे होने वाले] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (नाके)

४—(पौर्णमासी)–म० १। सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारा शक्तिः (प्रथमा) आद्या (यज्ञिया) पूजार्हा (अह्नाम्) दिनानां मध्ये (रात्रीणाम्)(अतिशर्वरेषु) कॄगॄशॄ वृञ्चतिभ्यः ष्वरच्। उ० २। १२१। शॄ हिंसायाम्–ष्वरच्। शर्वरं तमः। अत्यन्तान्धकारेषु (ये) मनुष्याः (त्वाम्) पौर्णमासीम् (यज्ञैः) पूजनीयैः कर्मभिः (यज्ञिये) पूजार्हे (अर्धयन्ति) ऋधु वृद्धौ–णिच्। वर्धयन्ति। अर्चन्ति (अमी) इदानीतनाः (ते) दूरस्थाः। भूते भविष्यति च भवाः (नाके)

आनन्द में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि और प्रलय से अनादि और अनन्त है, उसकी पूजा करके सब मनुष्य आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-६ ॥ ॥ १ सोमार्कौ; २-६ चन्द्रमा देवता ॥ १ जगती; २, ६ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः; ५ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

सूर्यचन्द्रलक्षणोपदेशः—सूर्य, चन्द्रमा लक्षणों का उपदेश ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्। विश्वान्यो भुवना विचष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

पूर्वम् अपरम्। चरतः। मायया। एतौ। शिशू इति। क्रीडन्तौ। परि। यातः। अर्णवम्। विश्वा। अन्यः। भुवना। वि-चष्टे। ऋतून्। अन्यः। वि-दधत्। जायसे। नवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एतौ) यह दोनों [सूर्य, चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) विचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (शिशू) [माता पिता के दुःख हटाने वाले] दो बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) चारो ओर (यातः) चलते हैं। (अन्यः एक [सूर्य] (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (विचष्टे) देखता है,

सुखे (सुकृतः) सुकर्माणः (प्रविष्टाः) स्थिता भवन्ति ॥

१—(पूर्वापरम्) यथा तथा, पूर्वापरपर्य्यायेण (चरतः) विचरतः (मायया) ईश्वरप्रज्ञया (एतौ) सूर्य्याचन्द्रमसौ (शिशू) शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति—निरु० १० । ३६ । शः कित् सन्वच्च । उ० १ । २० । शो तनूकरणे—उ प्रत्ययः, श्यति पित्रोर्दुःखानीति शिशुः । बालकौ यथा (क्रीडन्तौ) विहरन्तौ (परि) सर्वतः (यातः) गच्छतः (अर्णवम्) अ० १ । १० । ४। समुद्रम् । अन्तरिक्षम् (विश्वा) सर्वाणि

(अन्यः) दूसरा तू [चन्द्रमा] (ऋतून्) ऋतुओं को [अपनी गति से] (विदधत्) बनाता हुआ [शुक्ल पक्ष में] (नवः) नवीन (जायसे) प्रगट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से आकाश में घूमते हैं और सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को प्रकाश पहुंचाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आरम्भ से एक एक कला बढ़कर वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० । ८५ । १८,१९ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥

नवः-नवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि । अग्रम् । भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आ-यन् । प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमः) हे चन्द्रमा ! तू [शुक्लपक्ष में] (नवोनवः) नया नया (जायमानः) प्रकट होता हुआ (भवसि) रहता है, और (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) जताने वाला तू (उषसाम्) उषाओं [प्रभातवेलाओं] के (अग्रम्) आगे (एषि) चलता है। और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) उत्तम पदार्थों को (भागम्) सेवनीय उत्तम गुण (वि दधासि) विविध प्रकार

(अन्यः) सूर्यः (भुवना) चन्द्रादिलोकान् (विचष्टे) विविधं पश्यति । प्रकाशयति (ऋतून्) वसन्तादिकालान् (अन्यः) चन्द्रमाः (विदधत्) कुर्वन् (जायसे) प्रादुर्भवसि (नवः) नवीनः शुक्लपक्षे ॥

२—(नवोनवः) पुनःपुनरभिनवः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु, एकैककलावृद्ध्या (भवसि) (जायमानः) प्रादुर्भवन् (अह्नाम्) चान्द्रतिथीनाम् (केतुः) केतयिता ज्ञापयिता (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (एषि) प्राप्नोषि (अग्रम्) पुरोगतिम् (भागम्) सेवनीयमुत्तमं गुणम् (देवेभ्यः) दिव्यपदार्थेभ्यः (वि) विविधम् (दधासि) ददासि (आयन्) आगच्छन् प्रादुर्भवन् (प्र) प्रकर्षेण

देता है, और (दीर्घम्) लम्बे (आयुः) जीवन काल को (प्र) अच्छे प्रकार (तिरसे) पार लगाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है और दिनों, अर्थात् प्रतिपदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता है। और पृथिवी के पदार्थों में जीवन शक्ति देकर पुष्टिकारक होता है ॥ २ ॥

भगवान् यास्क का मत है—निरु० ११। ६। ' "नया नया प्रकट होता हुआ'—यह शुक्लपक्ष के आरम्भ से अभिप्राय है। दिनों को जताने वाला उषाओं के आगे चलता है, यह कृष्णपक्ष की समाप्ति से अभिप्राय है। कोई कहते हैं कि दूसरा पाद सूर्य देवता का है ॥"

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य। अंशो इति। युधाम्। पते। अनूनः। नाम। वै। असि। अनूनम्। दर्श। मा। कृधि। प्र-जया। च। धनेन। च ॥ ३॥

भाषार्थ—(सोमस्य) हे अमृत के (अंशो) बांटने वाले ! (युधाम्) हे युद्धों के (पते) स्वामी ! (वै) निश्चय करके तू (अनूनः) न्यूनता रहित [सम्पूर्ण] (नाम) प्रसिद्ध (असि) है। (दर्श) हे दर्शनीय! (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा से (च च) और (धनेन) धन से (अनूनम्) सम्पूर्ण (कृधि) कर ॥ ३ ॥

(चन्द्रमः) अ० ५। २४। १०। हे चन्द्र (तिरसे) पारयसे (दीर्घम्) अ० १। ३५। २। लम्बमानम् (आयुः) जीवनकालम्।

३—(सोमस्य) अमृतस्य। जीवनसाधनस्य (अंशो) अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा—निरु० २। ५। मृगय्वादयश्च। उ०१। ३७। अंश विभाजने—कु। अंशुः = सोमो विभागो विभक्ता वा। हे विभाजयितः (युधाम्) युद्धानां पार्थिवजलस्याकर्षणानाम्, यद्वा ग्रहताराणानामुल्लेखादियुद्धानाम्, सूर्यसिद्धान्ते—अ० ७। श्लोक १८-२३ (पते) स्वामिन् (अनूनः) ऊन परिहाणे—क। न्यूनतारहितः। सम्पूर्णकलः (नाम) प्रसिद्धो (वै) निश्चयेन (असि) (अनूनम्) सम्पूर्णं समृद्धम् (दर्श) दृश—अच्। हे दर्शनीय। पूर्ण-

भावार्थ—पूर्ण चन्द्रमा अमृत का बांटने वाला इस लिये है कि उसकी किरणों से पार्थिव पदार्थों और प्राणियों में पोषण शक्ति पहुंचती है। और युद्धों का स्वामी इस कारण है कि पौर्णमासी को पार्थिव समुद्र का जल चन्द्रमा की ओर लहराता है, अथवा उल्लेखादि युद्धों अर्थात् ग्रह और तारा गणों के परस्पर निकट हो जाने वा टकरा जाने का काल चन्द्रमा की गति से निर्णय किया जाता है—देखो सूर्यसिद्धान्त, अध्याय ७। श्लोक १८–२३। मनुष्य पौष्टिक पदार्थों से उपकार लेकर प्रजावान् और धनवान् होवें ॥ ३ ॥

दुर्शो॑ऽसि दुर्श॒तो॑ऽसि स॒मग्रो॑ऽसि स॒मन्त॑:। स॒मग्र॑: स॒मन्तो॑ भूयासं॒ गोभि॒रश्वै॑: प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ४ ॥

दु॒र्शः। अ॒सि॒। दु॒र्श॒तः। अ॒सि॒। स॒म्ऽअ॑ग्रः। अ॒सि॒। स॒म्ऽअ॑न्तः। स॒म्ऽअ॑ग्रः। स॒म्ऽअ॑न्तः। भू॒या॒स॒म्। गोभि॑ः। अश्वै॑ः। प्र॒ऽजया॑। प॒ऽशुभि॑ः। गृ॒हैः। धने॑न ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[चन्द्र !] तू (दर्शः) दर्शनीय (असि) है, (दर्शतः) देखने का साधन (असि) है, (समग्रः) सम्पूर्ण गुण वाला, और (समन्तः) सम्पूर्ण कला वाला, (असि) है। (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि प्रजा से, (गृहैः) घरों से (धनेन) और धन से (समग्रः) सम्पूर्ण और (समन्तः) परिपूर्ण (भूयासम्) मैं रहूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र संसार का उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्य सब विधि से परिपूर्ण होकर परस्पर सहायक रहें ॥ ४ ॥

चन्द्र (मा) माम् (कृधि) कुरु (प्रजया) सन्ततिभृत्यादिना (च-च) समुच्चये (धनेन) ॥

४—(दर्शः)—म० ३। दर्शनीयः (असि) भवसि (दर्शतः) अ० ४। १०। ६। पश्यति येन सः। सूर्यः। चन्द्रः (समग्रः) सम्पूर्णगुणः (समन्तः) पूर्णकलः (समग्रः) संपूर्णः (समन्तः) समृद्धः (गोभिः) अश्वैः) (प्रजया) (पशुभिः) हस्तिमहिषीमेषादिभिः (गृहैः) (धनेन) ॥

यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व। आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। यस्य। त्वम्। प्राणेन। आ। प्यायस्व। आ। वयम्। प्याशिषीमहि। गोभिः। अश्वैः। प्र-जया। पशु-भिः। गृहैः। धनेन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) विरोध करते हैं, (त्वम्) तू [हे चन्द्र !] (तस्य) उसको (प्राणेन) प्राण से (आप्यायस्व) वियुक्त कर। (वयम्) हम लोग (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) [हाथी भैंस भेड़ आदि] अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि से, (गृहैः) घरों से, और (धनेन) धन से (आ) सब प्रकार (प्याशिषीमहि) बढ़ें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा आदि के उत्तम गुण कुव्यवहार से दुःखदायक और सुव्यवहार से सुखदायक होते मैं ॥ ५ ॥

(प्याशिषीमहि) के स्थान पर पं० सेवकलाल के पुस्तक में (प्यायिषीमहि) पाठ है ॥

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति। तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य

५—(यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि) विरोधयति (यम्) (वयम्) (द्विष्मः) विरोधयामः (तस्य) तम् (त्वम्) हे चन्द्र (प्राणेन) जीवनेन (आ) वियोगे—यथा आपद् शब्दे (आ प्यायस्व) वियोजय (आ) समन्तात् (वयम्) (प्याशिषीमहि) ओ प्यायी वृद्धौ, आशिषि लिङि यकारस्थाने शकारश्छान्दसः। प्यायिषीमहि—यथा पं० सेवकलालस्य पुस्तके पाठः। वर्धिषीमहि। अन्यत्पूर्ववत्—म० ४ ॥

गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आ-प्यायर्यन्ति । यम् । अक्षितम् । अक्षिताः । भक्षर्यन्ति । तेन॑ । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः । बृहस्पतिः । आ । प्यायुयुन्तु । भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (अंशुम्) अमृत [चन्द्रमा के रस] को (देवाः) प्रकाशमान सूर्य की किरणें [शुक्लपक्ष में] (आप्याययन्ति) बढ़ा देती हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) बिना घटे हुये को (अक्षिताः) वे व्यापक [किरणें] (भक्षयन्ति) [कृष्ण पक्ष में] खा लेती हैं। (तेन) उसी [नियम] से (अस्मान्) हमको (भुवनस्य) संसार के (गोपाः) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा, (वरुणः) श्रेष्ठ वैद्य और (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, आचार्य (आ) सब प्रकार (प्याययन्तु) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस नियम से सूर्य की किरणें चन्द्रमा के अनिष्ट रस को खींचकर अमृत उत्पन्न करती हैं, वैसे ही राजा आदि गुरुजन प्रजा के दुखोंका नाश करके सुख प्राप्त करावें ॥ ६ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-६ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ४-६ त्रिष्टुप्; २ बृहती; ३ जगती ॥

वेदविज्ञानोपदेशः—वेद के विज्ञान का उपदेश ॥

६—(यम्) (देवाः) देवः=द्युस्थानः—निरु ७ । १५ । प्रकाशमानाः सूर्यरश्मयः (अंशुम्)–म० ३ । सोमम् । चन्द्ररसम् (आ प्याययन्ति) सर्वतो वर्धयन्ति, शुक्लपक्षे (यम्) (अक्षितम्) अक्षीणम् (अक्षिताः) अक्षू व्याप्तौ—क्त । व्याप्ताः किरणाः (भक्षयन्ति) अदन्ति । आकर्षन्ति, कृष्णपक्षे (तेन) नियमेन (अस्मान्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (वरुणः) श्रेष्ठो वैद्यः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः । आचार्यः (आ) समन्तात् (प्याययन्तु) वर्धयन्तु (भुवनस्य) लोकस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे—घञ । गोपयितारः । रक्षकाः ॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्

अभि । अर्चत । सु-स्तुतिम् । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु । भद्रा । द्रविणानि । धत्त । इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता । नः । घृतस्य । धाराः । मधु-मत् । पवन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सुष्टुतिम्) बड़ी स्तुति वाले, (गव्यम्) पृथिवी वा स्वर्ग के लिये हितकारक, (आजिम्) प्राप्तियोग्य परमेश्वर को (अभि) भले प्रकार (अर्चत) पूजो, और (अस्मासु) हम लोगों में (भद्रा) सुखों और (द्रविणानि) बलों और धनों को (धत्त) धारण करो । (देवता) प्रकाशमान तुम सब (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (नः) हम में (नयत) पहुंचाओ, (घृतस्य) प्रकाशित ज्ञान की (धाराः) धारायें [धारण शक्तियां वा प्रवाह] (मधुमत्) श्रेष्ठ विज्ञानयुक्त कर्म को (पवन्ताम्) शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ४ । ५८ । १० ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

१—(अभि) सर्वतः (अर्चत) पूजयत (सुष्टुतिम्) अतिस्तुतियुक्तम् (गव्यम्) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । गो—यत् । गवे पृथिव्यै स्वर्गाय वा हितम् (आजिम्) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः—इण् । प्रापणीयं परमात्मानम् (अस्मासु) (भद्रा) सुखानि (द्रविणानि) बलानि धनानि च (धत्त) धारयत (इमम्) प्रसिद्धम् (यज्ञम्) पूजनीयं परमेश्वरम् (नयत) प्रापयत (देवता) स्वार्थे तल् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । देवताः । यूयं प्रकाशमानाः (घृतस्य) प्रकाशितस्य बोधस्य (धाराः) धारणशक्तयः प्रवाहा वा (मधुमत्) प्रशस्तविज्ञानयुक्तं कर्म (पवन्ताम्) शोधयन्तु ॥

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्रे । अग्निम् । गृह्णामि । सह । क्षत्रेण । वर्चसा बलेन । मयि । प्र-जाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा । मयि । अग्निम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—मैं (अग्रे) सब से पहिले वर्तमान (अग्निम्) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मयि) अपने में (क्षत्रेण) [दुःख से बचाने वाले] राज्य,(वर्चसा) प्रताप और (बलेन सह) बल के साथ (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं। मैं (मयि) अपने में (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] को, (मयि) अपने में (आयुः) जीवन को, (मयि) अपने में (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के द्वारा (दधामि) धारण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि, अनन्त, परमात्मा का भरोसा रखकर शारीरिक, आत्मिक बल बढ़ा कर राज्य आदि की वृद्धि करें ॥ २ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः । क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥

इह । एव । अग्ने । अधि । धारय । रयिम् । मा । त्वा । नि । क्रन् । पूर्व-चित्ताः । नि-कारिणः । क्षत्रेण । अग्ने । सु-यमम् । अस्तु । तुभ्यम् । उप-सत्ता । वर्धताम् । ते । अनि-स्तृतः ३

२—(मयि) आत्मनि (अग्रे) सर्वप्रथमं वर्तमानम् (अग्निम्) सर्वज्ञं परमात्मानाम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (सह) सहितः (क्षत्रेण) क्षणु हिंसायाम्-क्विप्+त्रैङ् पालने—क । क्षतः क्षतात् त्रायकेण राज्येन (वर्चसा) प्रतापेन (बलेन) (मयि) (प्रजाम्) सन्ततिभृत्यादिरूपाम् (मयि) (आयुः) जीवनम् (दधामि) धारयामि (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाण्या । वेदवाचा (मयि) (अग्निम्) विद्युतं शारीरिकात्मिकबलहेतुम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (इह एव) यहां पर ही (रयिम्) धन को (अधि) अधिकार पूर्वक (धारय) पुष्ट कर, (पूर्वचित्ताः) पहिले से सोचने वाले [घाती], (निकारिणः) अपकारी [दुष्ट] लोग (त्वा) तुझ को (मा नि क्रन्) नीचा न करें। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (तुभ्यम्) तेरे (क्षत्रेण) [विघ्न से बचाने वाले] राज्य के साथ [हमारा] (सुयमम्) सुन्दर नियम वाला कर्म (अस्तु) होवे, (ते) तेरा (उपसत्ता) उपासक [आश्रित जन] (अनिष्टृतः) अजेय होकर (वर्धताम्) बढ़ता रहे॥ ३॥

भावार्थ—मनुष्य दूरदर्शी नीतिज्ञ हो कर घात लगाने वाले शत्रुओं से बच कर धर्म के साथ अपनी और प्रजा की उन्नति करें ॥ ३ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।

अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥४॥

अनु। अग्निः। उषसाम्। अग्रम्। अख्यत्। अनु। अहानि। प्रथमः। जात-वेदाः। अनु। सूर्यः। उषसः। अनु। रश्मीन्। अनु। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश॥ ४॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले

३—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) (अग्ने) हे सर्वज्ञ (अधि) अधिकृत्य (धारय) पोषय (रयिम्) धनम् (त्वा) परमेश्वरम् (मा नि क्रन्) मन्त्रे घसह्वर०। पा० २।४।८०। करोतेर्लुङि च्लेर्लुक्। नीचैर्मा कार्षुः (पूर्वचित्ताः) प्राग्विचारवन्तः, घातिन इत्यर्थः (निकारिणः) अपकारिणः (क्षत्रेण)—म० २। विघ्नाद् रक्षकेण राज्येन (अग्ने) सर्वव्यापक (सुयमम्) ईषद्दुःसुषु०। पा० ३।३।१२६। सु+यम नियमने—खल्। यथावद् नियमयुक्तं कर्म (अस्तु) (तुभ्यम्) षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्या। वा०पा० २।३।६२। तव (उपसत्ता) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—तृच्। उपासकः। आश्रितः (वर्धताम्) (ते) तव (अनिष्टृतः) स्तृञ् आच्छादने—क्त। स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २। १९। अहिंसितः। अजेयः॥

४—(अनु) निरन्तरम् (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (अग्रम्) प्रादुर्भावम् (अख्यत्) ख्यातेर्लुङ्। अ० ७। ७३। ६।

वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्नवस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सब को चलाने वाले परमेश्वर] ने (उपसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आ विवेश) प्रवेश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रच कर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्य का उपास्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यग्निरुपसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रतिसूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान

प्रति। अग्निः। उषसाम्। अग्रम्। अख्यत्। प्रति। अहानि। प्रथमः। जात-वेदाः। प्रति। सूर्यस्य। पुरु-धा। च। रश्मीन्। प्रति। द्यावापृथिवी इति। आ। ततान ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्त्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान करानेवाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥ ५ ॥

प्रख्यातवान् (अनु) (अहानि) दिनानि (प्रथमः) प्रथमानः (जातवेदाः) अ० १। ७। २। जातानि वस्तूनि वेदयति ज्ञापयतीति सः (अनु) (सूर्यः) सर्वव्यापकः। सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (उपसः) प्रभातकालान् (रश्मीन्) अ० २। ३२। १। व्यापकान् किरणान् (अनु) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आ विवेश) समन्तात् प्रविष्टवान् ॥

५—(प्रति) प्रत्यक्षरूपेण (सूर्यस्य) आदित्यमण्डलस्य (पुरुधा) अनेकधा (च) (आ) समन्तात् (ततान) विस्तारयामास ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचारकर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥

घृतं ते॑ अग्ने दि॒व्ये स॒धस्थे॑ घृ॒तेन॒ त्वां मनु॑र॒द्या समि॑न्धे ।
घृतं ते॑ दे॒वीर्न॒प्त्य॑ आ व॑हन्तु घृ॒तं तुभ्यं॑ दुह्रतां॒ गावो॑ अग्ने ॥६॥

घृ॒तम् । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒व्ये । स॒ध-स्थे॑ । घृ॒तेन॑ । त्वाम् । मनुः॑ । अ॒द्य । सम् । इ॒न्धे॒ । घृ॒तम् । ते॒ । दे॒वीः । न॒प्त्यः॑ । आ । व॒ह॒न्तु॒ । घृ॒तम् । तुभ्य॑म् । दु॒ह्र॒ताम् । गावः॑ । अ॒ग्ने॒ ॥६॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (ते) तेरा (घृतम्) प्रकाश (दिव्ये) दिव्य [सूक्ष्म] कारण में और (सधस्थे) मिलकर ठहरने वाले कार्य रूप जगत् में है, (घृतेन) प्रकाश के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ को (मनुः) मननशील पुरुष (अद्य) अब (सम्) यथावत् (इन्धे) प्रकाशित करता है। (ते) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (देवीः) उत्तम गुणवाली, (नप्त्यः) न गिरनेवाले प्रजायें [हमें] (आ वहन्तु) प्राप्त करावें, (अग्ने) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (गावः) वेद वाणियां (तुभ्यम्) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (दुह्रताम्) परिपूर्ण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की सत्ता और शक्ति को कारण और कार्य रूप जगत् में साक्षात् करके संसार को पुरुषार्थी बनावें ॥ ६ ॥

६—(घृतम्) घृ सेके दीप्तौ च—क्त । दीप्तिः (ते) तव (अग्ने) सर्वज्ञ परमेश्वर (दिव्ये) विचित्रे कारणे (सधस्थे) सहस्थितिशीले कार्यरूपे संसारे (घृतेन) प्रकाशेन (त्वाम्) (मनुः) मननशीलः पुरुषः (अद्य) इदानीम् (सम्) सम्यक् (इन्धे) ञि इन्धी दीप्तौ, एयर्थः । दीपयति । विज्ञापयति (घृतम्) ज्ञानप्रकाशम् (ते) तव (देवीः) उत्तमगुणयुक्ताः (नप्त्यः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । नञ्+पतॢ गतौ—तृच्, ङीप्, छान्दसं रूपम् । न पततीति नप्त्री । नप्त्र्यः । न पतनशीलाः प्रजाः (आ) अभिमुखम् (वहन्तु) प्रापयन्तु (घृतम्) (तुभ्यम्) म० ३ । तव (दुह्रताम् ।) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । रुडागमः । दुहताम । प्रपूरयन्त (गावः) वेदवाचः—(अग्ने) हे सर्वव्यापक ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वरुणो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वर नियमोपदेशः—ईश्वर के नियम का उपदेश ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्-सु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।
ततः । धृत-व्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (ते) तेरा (हिरण्ययः) तेजोमय (ग्रहः) ग्रहण सामर्थ्य[1] (अप्सु) सब प्राणों में (मिथः) एक दूसरे के साथ [वर्तमान है] । (ततः) उसी से (धृतव्रतः) नियमों के धारण करनेवाले (राजा) राजा आप (सर्वा) सब (धामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) खोल देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना से पापों को छोड़, धर्म में प्रवृत्त होकर क्लेशों से मुक्त होवें ॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः । यदापो
अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

धाम्नः-धाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः । यत् ।
आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम । ततः ।

१—(अप्सु) आपः प्राणाः—दयानन्द भाष्ये यजु० २० । १८ । प्राणेषु (ते) तव (राजन्) ऐश्वर्यवन् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (गृहः) ग्रहण-सामर्थ्यम् (हिरण्ययः) अ० ४ । २ । ८ । तेजोमयः (मिथः) मिथ ज्ञाने—असुन् स च कित् । परस्परम् (ततः) तस्मात् कारणात् (धृतव्रतः) नियम-धारकः (राजा) शासकः (सर्वा) सर्वाणि (धामानि) दधातेर्मनिन् । धीयन्ते बध्यन्ते । बन्धनानि (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (इतः) इस (धाम्नोधाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (नः) हमें (मुञ्च) छुड़ा । (यत्) जिस कारण से (आपः) यह प्राण (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ [के तुल्य] हैं, (इति) इस प्रकार से, (वरुण) हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ! (इति) इस प्रकार से, (यत्) जो कुछ (ऊचिम) हमने कहा है, [इसी कारण से] (वरुण) हे दुःखनिवारक ! (नः) हमें (ततः) उस [बन्धन] से (मुञ्च) छुड़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो लोग परमात्मा को बन्धनमोचक जानकर विरुद्ध आचरण से गौके समान अपने और पराये प्राणों की रक्षा करते हैं, वे हृदय की गांठ खुल जाने से सदा आनन्दित रहते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है-२० १८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥३॥

उत् । उत्-तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अव । अधमम् । वि । मध्यमम् । श्रथय । अध । वयम् । आदित्य । व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम

२—(धाम्नोधाम्नः) म० १ । वीप्सायां द्विर्वचनम् । प्रत्येकबन्धनात् (राजन्) (इतः) अस्मात् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ (मुञ्च) (नः) अस्मान् (यत्) यस्मात् कारणात् (आपः) प्राणाः-दयानन्दभाष्ये यजु० २० । १८ (अघ्न्याः) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्या गावो यथा (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) सर्वोत्कृष्ट (इति) एवम् (यत्) यत् किञ्चित् (ऊचिम) ब्रूञ—लिट् । वयं कथितवन्तः (ततः) तस्मात् क्लेशबन्धनात् (वरुण) दुःखनिवारक (मुञ्च) पृथक् कुरु (नः) अस्मान् ॥

३—(उत्) ऊर्ध्वम् । उत्कृष्य (उत्तमम्) ऊर्ध्वस्थितम् (पाशम्) बन्धनम्

से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीचवाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथय) खोल दे। (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्डनीय जगदीश्वर! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः) निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके धर्माचरण से भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्लेशों को अलग करके सदा सुखी रहें ॥३

यह मन्त्र ऋग्वेद में है। १। २४। १५ और यजु० १२। १२। और अथर्ववेद में भी है—१८। ४। ६९ ॥

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च सर्वा॑न् य उ॑त्त॒मा अ॑ध॒मा वा॑रु॒णा ये। दु॒ष्वप्न्यं॑ दुरि॒तं नि ष्वा॒स्मदथ॑ गच्छेम सुकृतस्य॑ लो॒कम् ॥ ४ ॥

प्र। अस्मत्। पाशा॑न्। वरुण। मुञ्च। सर्वा॑न्। ये। उत्-तमाः। अधमाः। वारुणाः। ये। दुः-स्वप्न्य॑म्। दुः-इतम्। निः। स्व। अस्मत्। अथ॑। गच्छे॑म। सु-कृतस्य॑। लोकम् ॥४

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः)

(अस्मत्) अस्मत्तः (अव) अधस्तात्। अवकृष्य (अधमम्) नीचस्थम् (वि) विविधम् (मध्यमम्) मध्यस्थम् (श्रथय) श्रथ दौर्बल्ये, चुरादिः, छान्दसो दीर्घः। शिथिलीकुरु। विमोचय (अध) अथ। अनन्तरम् (आदित्य) अ० १। ९। १। आ+दीपी दीप्तौ-यक्। यद्वा। नञ्—दो अव खण्डने-क्तिन्, ततो ण्यप्रत्ययः। सर्वतः प्रकाशमान। अदितिरखण्डनं यस्यास्ति आदित्यः। हे अखण्डनीय (व्रते) वरणीये नियमे (तव) (अनागसः) अ० ७। ७। १ अनपराधिनः (अदितये) अ० २। २८। ४। अदीनायै पृथिव्यै, तद्राज्याय (स्याम) भवेम ॥

४—(प्र) प्रकर्षेण (वरुण) हे दुःखनिवारक परमेश्वर (मुञ्च) मोचय।

ऊंचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे [फन्दे] (वारुणाः) दोष निवारक वरुण परमेश्वर से आये हैं। (दुष्स्वप्न्यम्) नींद में उठे कुविचार और (दुरितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः स्व) निकाल दे,(अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ-जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुष्कर्मों से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है। अ० ६। १२१। १॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः;२,३ इन्द्रो देवता ॥१ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह। विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः। जात-वेदाः। अमर्त्यः। वि-राट्। अग्ने। क्षत्र-भृत्। दीदिहि। इह। विश्वाः। अमीवाः। प्र-मुञ्चन्। मानुषीभिः। शिवाभिः। अद्य। परि। पाहि। नः। गयम् ॥१

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रतापी राजन् (अनाधृष्यः) सब प्रकार अजेय, (जातवेदाः) बड़ा ज्ञानवान् वा धनवान्,(अमर्त्यः) अमर [यशस्वी], (विराट्) बड़ा ऐश्वर्यवान्, (क्षत्रभृत्) राज्यपोषक होकर तू (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो। (विश्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (प्रमुञ्चन्)

अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६। १२१। १॥

१—(अनाधृष्यः) ऋदुपधाच्चाकॢपिचृतेः। ३। १। ११०। ञि धृषा प्रागल्भ्ये पराभवे च—क्यप्। धर्षितुमयोग्यः। अजेयः (जातवेदाः) अ० १। ७। २। प्रसिद्धज्ञानः। बहुधनः (अमर्त्यः) अ० ४। ३७। १२। अमरः। यशस्वी (विराट्) राजतिरैश्वर्यकर्मा-निघ० २। २१ क्विप्। विविधैश्वर्यवान् (अग्ने) हे प्रतापिन् राजन् (क्षत्रभृत्) राज्यपोषकः (दीदिहि) अ० ७। ७४। ४।

छुड़ाता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यों को हितकारक (शिवाभिः) युक्तियों के साथ (अद्य) अब (नः) हमारे (गयम्) घर की (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ, प्रतापी राजा प्रजाओं को कष्टों से मुक्त करके सदा सन्तुष्ट रख उन्नति करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-२७ । ७ ॥

इन्द्रं क्षत्रम॒भि वा॒मम॒भिजोऽजा॑यथा वृषभ चर्षणी॒नाम् ।
अपा॑नुदो॒ जन॑ममित्रा॒यन्त॑मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अकृणोरु लो॒कम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । क्ष॒त्रम् । अ॒भि । वा॒मम् । ओजः॑ । अजा॑यथाः । वृ॒ष॒भ॒ । च॒र्ष॒णी॒नाम् । अप॑ । अ॒नु॒दः॒ । जन॑म् । अ॒मि॒त्र॒ऽयन्त॑म् । उ॒रुम् । दे॒वेभ्यः॑ । अ॒कृ॒णोः॒ । ऊं॒ इति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (वामम्) उत्तम (क्षत्रम्) राज्य और (ओजः अभि) पराक्रम के लिये (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है । तू ने (अमित्रयन्तम्) अमित्र समान आचरण वाले (जनम्) लोगों को (अप अनुदः) हटा दिया है (उ) और (देवेभ्यः) विजय चाहने वालों के लिये (उरुम्) विस्तीर्ण (लोकम्)

दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (विश्वाः) सर्वाः (अमीवाः) अ० ७ । ४२ । १ । पीडाः (प्रमुञ्चन्) निवारयन् (मानुषीभिः) अ० ४ । ३२ । २ । मनुर्हिताभिः (शिवाभिः) अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलकारिकाभिः क्रियाभिः । युक्तिभिः (अद्य) इदानीम् (परि) (पाहि) (नः) अस्माकम् (गयम्) अ० ६ । ३ । ३ । गृहम् ॥

२—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं राज्यम् (अभि) अभिलक्ष्य (वामम्) प्रशस्यम्—निघ० ३ । ८ (ओजः) पराक्रमम् (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ । (अप अनुदः) अपागमयः (जनम्) लोकम् (अमित्रयन्तम्) उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । अमित्र—क्यच्, शतृ । नच्छन्दस्यपुत्रस्य । पा० ७ । ४ । ३५ । इति ईत्वस्य आत्वस्य च निषेधः । सांहितिको दीर्घः । अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तम् (उरुम्) विस्तीर्णम् (देवेभ्यः) विजिगीषुभ्यः (अकृणोः) अकार्षीः (उ)

स्थान (अकृणोः) किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा के पराक्रमी होने से सेनापति लोग और प्रजागण भी ओजस्वी होते हैं ॥ २ ॥

मह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । ३ ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः। सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरि-स्थाः । परा-वतः । आ । जगम्यात् । परस्याः । सृकम् । सम्-शाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् । ताढि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (भीमः) भयानक (कुचरः) टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे, दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) [आखेट ढूढ़ने वाले] सिंह आदि के समान आप (परावतः) समीप देश और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आते रहें । (तिग्मम्) उत्साह वाले (सृकम्) बाण और (पविम्) वज्र को (संशाय) तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को (वि) विशेष कर (ताढि) ताड़नाकर और (मृधः) हिंसकों को (वि नुदस्व) निकाल दे ॥ ३ ॥

समुच्चये (लोकम्) स्थानम् ॥

३—(सृकम्) सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । सृ गतौ—कक् । बाणम् (संशाय) शो तनूकरणे—ल्यप् । तीक्ष्णीकृत्य (पविम्) वज्रम्—निघ० २ । २० । (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (तिग्मम्) अ० ४ । २७ । ७ । तिग्म तेजतेरुत्साहकर्मणः—निघ० १० । ६ । उत्साहवन्तम् (वि) विशेषेण (ताढि) तड आघाते-लोट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । हेरार्धधातुकत्वाद् णिलोपः । ताडय (वि) विविधम् (मृधः) हिंसकान् (नुदस्व) प्रेरय । अन्यद् गतम्—अ० ७ । २६ । २ ॥

भावार्थ—राजा सिंह के समान पराक्रमी होकर शस्त्र अस्त्रों को तीक्ष्ण करके शत्रुओं को जीत प्रजा को सुखी रक्खे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । २ । और यजु० १८ । ७१ । इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७ । २६ । २ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१ ॥ तार्क्ष्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देव-जूतम् । सहः-वानम् । तरुतारम् । रथानाम् । अरिष्ट-नेमिम् । पृतना-जिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् । इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्यम् उ) उस ही (वाजिनम्) अन्नवाले (देवजूतम्) विद्वानों से प्रेरणा किये गये, (सहोवानम्) महाबली, (रथानाम्) रथों के [जल थल और आकाश में] (तरुतारम्) तिराने [चलाने] वाले, (अरिष्टनेमिम्) अटूट वज्रवाले, (पृतनाजिम्) सेनाओं को जीतने वाले (आशुम्)

१—(त्यम्) तं प्रसिद्धम् (उ) एव (सु) पूजायाम् (वाजिनम्) अन्नवन्तम् (देवजूतम्) जु गतौ—क्त । जूर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा—निरु० १० । २८ । विद्वद्भिः प्रेरितम् (सहोवानम्) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०९ । सहस्-वनिप् । सहस्वन्तं बलवन्तम् (तरुतारम्) असितस्कभित० । पा० ७ । २ । ३४ । तरतेस्तृचि उडागमः । तरीतारम् । तारयितारम् (रथानाम्) यानानाम् (अरिष्टनेमिम्) रिष हिंसायाम्—क्त । नियो मिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । नेमिर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । अच्छिन्नवज्रम् (पृतनाजिम्) घातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । जि जये—इण्, स च डित् । शत्रुसेनानां जेतारम् (आशुम्) अ० २ । १४ । ६ । अशूङ् व्याप्तौ संघाते च । उण् । व्यापनशीलम् (स्वस्तये) कल्याणाय (तार्क्ष्यम्) तृक्ष गतौ—घञ्, बाहुल-

व्यापने वाले, (तार्क्ष्यम्) महावेगवान् राजा को (इह) यहां पर (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिये (सु) आदर से (आ) भले प्रकार (हुवेम) हम बुलावें॥१॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण उत्तम गुणी राजा को अपनी रक्षा के लिये आवाहन करते रहें॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १७८ । १ । साम० पू० ४ । ५ । १, और निरुक्त १० । २८ । में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्म्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् । हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु ॥१॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवितारम् । इन्द्रम् । हवे-हवे । सु-हवम् । शूरम् । इन्द्रम् ॥ हुवे । नु । शक्रम् । पुरु-हूतम् । इन्द्रम् । स्वस्ति । नः । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रातारम्) पालन करने वाले (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले राजा को, (अवितारम्) तृप्त करने वाले (इन्द्रम्) सभाध्यक्ष [राजा] को, (हवेहवे) संग्राम संग्राम में (सुहवम्) यथावत् संग्राम वाले, (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) सेनापति [राजा] को, (शक्रम्) शक्तिमान्, (पुरुहूतम्) बहुत [लोगों] से पुकारे गये (इन्द्रम्) प्रतापी राजा को (नु) शीघ्र (हुवे) मैं बुलाता हूं;

कार्द्द वृद्धिः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । तार्क्ष—यत् । तार्क्ष्ये वेगे साधुम् । वेगवन्तं राजानम् । तार्क्ष्योऽश्वनाम-निघ० १ । १४ । तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः, तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नोतेर्वा-निरु० १० । २७ । (इह) अत्र (आ हुवेम) अ० ७ । ४० । २ । आह्वयेम ॥

१—(त्रातारम्) त्रैङ् पालने—तृच् । पालकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (अवितारम्) तर्पयितारम् (इन्द्रम्) सभाध्यक्षम् (हवेहवे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (सुहवम्) यथावत् सङ्ग्रामिणम् (शूरम्) पराक्रमिणम्,

(मघवान्) बड़ा धन वाला (इन्द्रः) राजा (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) मङ्गल (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य धर्मात्मा, न्यायकारी, जितेन्द्रिय, शूरवीर राजा का सदा आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ११; यजु० २० । ५०; और साम० पू० ४ । ५ । २ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१ रुद्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरमहिमोपदेशः—ईश्वर की महिमा का उपदेश ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

यः । अग्नौ । रुद्रः । यः । अप्-सु । अन्तः । यः । ओषधीः । वीरुधः । आ-विवेश ॥ यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चाक्लृपे । तस्मै । रुद्राय । नमः । अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (रुद्रः) रुद्र, ज्ञानवान् परमेश्वर (अग्नौ) अग्नि में, (यः) जो (अप्सु अन्तः) जल के भीतर है, (यः) जिसने (ओषधीः) उष्णता रखने वाली अन्न आदि ओषधियों में और (वीरुधः) विविध प्रकार

(इन्द्रम्) सेनापतिम् (हुवे) आह्वयामि (नु) शीघ्रम् (शक्रम्) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमन्तम् (पुरुहूतम्) बहुभिःपुरुषैराहूतम् (इन्द्रम्) प्रतापिनम् (स्वस्ति) सुखम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यः (मघवान्) अ० ६ । ५८ । १ धनवान् (कृणोतु) करोतु ॥

१—(यः) (अग्नौ) सूर्यविद्युदादिरूपे (रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । रु गतौ—क्विप्, तुक्, रो मत्वर्थे । ज्ञानवान् परमेश्वरः (यः) (अप्सु) जलेषु (अन्तर्) मध्ये (यः) (ओषधीः) अ० १ । २३ । १ । उष्णत्वधारिका अन्नादिरूपाः (वीरुधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला लतादिरूपाः (आविवेश)

उगने वाली बेलों वा बूटियों में (आविवेश) प्रवेश किया है। (यः) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों [उपस्थित पदार्थों] को (चक्लृपे) रचा है, (तस्मै) उस (अग्नये) सर्वव्यापक (रुद्राय) रुद्र, दुःखनाशक परमेश्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप, सर्वप्रकाशक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ बृहती छन्दः ॥

कुसंस्कारनाशोपदेशः—कुसंस्कार के नाश का उपदेश ॥

अपे॒ह्य॑रि॒र॒स्यरि॒र्वा अ॑सि । वि॒षे वि॒षम॑पृक्था वि॒षमिद्वा अ॑पृक्थाः । अहि॑मे॒वाभ्यपे॑हि॒ तं ज॑हि ॥ १ ॥

अप॑ । इ॒हि॒ । अ॒रिः । अ॒सि॒ । अ॒रिः । वै । अ॒सि॒ ॥ वि॒षे । वि॒षम् । अ॒पृ॒क्थाः । वि॒षम् । इत् । वै । अ॒पृ॒क्थाः ॥ अहि॑म् । ए॒व । अ॒भि॒ऽअपे॑हि । तम् । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विष !] (अप इहि) चला जा, (अरिः असिः) तू शत्रु है, (अरिः) तू शत्रु (वै) ही (असि) है। (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (विषम्) विष को (इत्) ही (वै) हां (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (अहिम्) सांप के पास (एव) ही

प्रविष्टवान् (यः) (इमा) दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) भूतजातानि । लोकान् (चक्लृपे) कृप मिश्रीकरणे चिन्तने च,—लिट् । कृपो रोलः। पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम्, अभ्यासस्य सांहतिको दीर्घः । रचितवान् (तस्मै) (रुद्राय) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे-क्विप्, तुक्+रु वधे-ड । दुःखनाशकाय (नमः) नतिः (अस्तु) (अग्नये) सर्वव्यापकाय ॥

१—(अपेहि) अपगच्छ (अरिः) हिंसकः शत्रुः (असि) (वै) खलु (असि) (विषे) (विषम्) (अपृक्थाः) पृची सम्पर्के लुङ् । संयोजितवानसि (इत्) एव (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारं सर्पम् (एव) (अभ्यपेहि)

(अभ्यपेहि) तू चला जा, (तम्) उसको (जहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे विष में विष मिलने से अधिक प्रचण्ड हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की इन्द्रियां एक तो आप ही पाप की ओर चलायमान होती हैं, फिर कुसंस्कार वा कुसंगति पाकर अधिक प्रचण्ड विषैली हो जाती हैं। जैसे वैद्य विष को विष से मारता है, वैसे ही विद्वान् जितेन्द्रियता से इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ १ ॥

सूक्तम् ८९ ॥

१-४ ॥ १, २ अग्निः; ३ आपः; ४ समिद् देवता ॥

१-३ अनुष्टुप्; ४ गायत्री ॥

विद्वत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों की संगति का उपदेश ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ॥ पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा ॥१

भाषार्थ—(दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्ष्महि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान्! (पयस्वान्) गति वाला मैं (आ अगमम्) आया हूं, (तम्) उस (मा) मुझको (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ १ ॥

अभिलक्ष्य समीपं गच्छ (तम्) अहिम् (जहि) मारय । अन्यद् गतम् ॥

१—(अपः) जलानि । जलानीव शोधकान् विदुषः (दिव्याः) दिव्यगुणस्वभावाः (अचायिषम्) चायृ पूजानिशामनयोः—लुङ् । पूजितवानस्मि (रसेन) पराक्रमेण (सम् अपृक्ष्महि) पृची सम्पर्के—लुङ् । संगता अभूम (पयस्वान्) पय गतौ—असुन् । गतिमान् । उद्योगी (अग्ने) हे विद्वन् (आ अगमम्) गमेर्लुङ् । आगतोऽस्मि (तम्) तादृशम् (मा) माम् (संसृज) संयोजय (वर्चसा) ब्रह्मवर्चसेन ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २२ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ २ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्र-जया । सम् । आयुषा ॥ विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषि-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझको (वर्चसा) [ब्रह्म विद्या के] तेज से (सम्) अच्छे प्रकार (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार और (आयुषा) जीवन से (सम् सृज) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग(अस्य) इस (मे) मुझको (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों केसाथ [मुझे] (विद्यात्)जाने ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ २ ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ॥ यत् । च । अभि-दुद्रोह । अनृतम् । यत् । च । शेपे । अभीरुणम् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (अग्ने) विद्वन् (वर्चसा) वेदाध्ययनादितेजसा (सृज) संयोजय (सम्) (प्रजया) (सम्) (आयुषा) जीवनेन (विद्युः) जानीयुः (मे) द्वितीयार्थे षष्ठी । माम् (अस्य) एनम् (देवाः) विद्वांसः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् । आचार्यः (विद्यात्) जानीयात् (ऋषिभिः) अ० २ । ६ । १ । आप्तैः । मुनिभिः ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [के समान शुद्धि करने वाले विद्वानो !] (इदम्) इस [सब] को (प्रवहत) बहा दो, (यत्) जो कुछ [मुझ में] (अवद्यम्) अकथनीय [निन्दनीय] (च च) और (मलम्) मलिन कर्म है। (च) और (यत्) जो कुछ (अनृतम्) झूंठ मूंठ (अभिदुद्रोह) बुरा चीता है, (च) और (यत्) जो कुछ (अभीरुणम्) निर्भय [निरपराधी] पुरुष को (शेपे) मैंने दुर्वचन कहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को सुधारें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—६ । १७ ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒य स॒मिद॑सि॒ समे॑धिषीय ।
तेजो॑सि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि ॥ ४ ॥

एधः॑ । अ॒सि॒ । ए॒धि॒षी॒य । स॒म्ऽइत् । अ॒सि॒ । सम् । ए॒धि॒षी॒य ।
तेजः॑ । अ॒सि॒ । तेजः॑ । मयि॑ । धे॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वन् !] तू (एधः) बढ़ा हुआ (असि) है, (एधिषीय) मैं बढ़ूं, (समित्) तू प्रकाशमान (असि) है, मैं (सम्) ठीक ठीक (एधिषीय) प्रकाशमान होऊं । (तेजः असि) तू तेज है, (तेजः) तेज को

३—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (आपः) जलानीव शुद्धिकरा विद्वांसः (प्रवहत) अपनयत (अवद्यम्) अकथनीयं निन्द्यम् (च च) समुच्चये (मलम्) अ० २ । ७ । १ । मलिनं कर्म (यत्) यत् किञ्चित् (अभिदुद्रोह) द्रुह जिघांसायाम्—लिट् । अनिष्टं चिन्तितवानस्मि (अनृतम्) यथा तथा । असत्यम् (शेपे) शप आक्रोशे—लिट् । दुर्वचनं कथितवानस्मि (अभीरुणम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । ञि भी भये—उनन्, स च कित्, रुडागमः । निर्भयम् । अनपराधिनम् ॥

४—(एधः) एध वृद्धौ—पचाद्यच् । प्रवृद्धः (असि) (एधिषीय) एध वृद्धौ—आशीर्लिङ् । अहं वर्धिषीय (समित्) ञि इन्धी दीप्तौ—क्विपि, नकारलोपः । प्रकाशमानः (असि) (सम्) सम्यक् (एधिषीय) ञि इन्धी दीप्तौ आशीर्लिङि छान्दसो नकारलोपो गुणश्च । इन्धिषीय । अहं समिद्धः प्रदीप्तः भूया-

(मयि) मुझ में (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध विद्वानों से सुशिक्षा पाकर उन्नति करते हुये तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ जगती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।

ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराण-वत् । व्रततेः-इव । गुष्पितम् ॥

ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पुराणवत्) पुराण [पुराने नियम] के अनुसार (दासस्य) दुःखदायी डाकू के (ओजः) बल को (व्रततेः) बेल के (गुष्पितम् इव) गांठ के समान (अपि) निश्चय करके (वृश्च) काट दे और (दम्भय) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा चोर आदि दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी रक्खे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—८ । ४० । ६ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भंजामहे । म्लाप-

सम् (तेजः) प्रकाशस्वरूपः (असि) (तेजः) प्रकाशम् (मयि) ब्रह्मचारिणि (धेहि) धारय ॥

१—(अपि) अवधारणे (वृश्च) छिन्धि (पुराणवत्) पुरा नीयते पुराणम् । पुरा + णीञ् प्रापणे-ड । णत्वं च, वतिः सादृश्ये । पुरातननियमवत् (व्रततेः) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । वृतु वर्तने-अति । व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च-निरु० ६ । २८ लतायाः (इव) यथा (गुष्पितम्) गुपू रक्षणे—क्त, षकारश्छान्दसः । गुपितम् । लताग्रन्थिम् (ओजः) बलम् (दासस्य) हिंसकस्य (दम्भय) दभि प्रेरणे । प्रेरय । निःसारय ॥

यामि भ्रुजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्ऽभृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहे ॥ म्लापयामि । भ्रजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥२॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले राजा के साथ (अस्य) इस [शत्रु] के (संभृतम्) एकत्र किये हुये (तत्) उस (वसु) धन को (वि भजामहे) बांट लेवें । [हे शत्रु !] (वरुणस्य) शत्रु निवारक राजा की (व्रतेन) व्यवस्था से (ते) तेरी (भ्रजः) चमक और (शिभ्रम्) ढिठाई को (म्लापयामि) मैं मेटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष यथान्याय शत्रु को धनदण्ड आदि देकर निर्बल करदें ॥ २ ॥

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः । अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः । यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेपः । अप-अयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ॥ अवस्थस्य । क्नदि-वतः । शाङ्कुरस्य । नि-तोदिनः ॥ यत् । आ-ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्-ततम् । नि । तत् । तनु ॥३॥

भाषार्थ—(अवस्थस्य) हिंसा में रहने वाले, (क्नदिवतः) गाली बकने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्का उत्पन्न करनेवाले, (नितोदिनः) नित्य सताने

२—(वयम्) धार्मिकाः (तत्) (अस्य) शत्रोः (संभृतम्) संगृहीतम् (वसु) धनम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा सह (वि भजामहे) विभक्तं करवामहै (म्लापयामि) म्लै हर्षक्षये, णयन्तात् पुगागमः । नाशयामि (भ्रजः) टु भ्राजृ दीप्तौ—असुन्, ह्रस्वः । दीपनम् (शिभ्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शीभृ कत्थने—रक्, ह्रस्वः । आत्मश्लाघाम् (वरुणस्य) शत्रुनिवारकस्य राज्ञः (व्रतेन) धर्मणा । व्यवस्थया (ते) तव ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । पराक्रमः (अपायातै) अय गतौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा०

वाले पुरुष का (शेपः) पराक्रम (यथा) जिस प्रकार (अपायाति) मिट जावे (च) और (स्त्रीषु) स्तुति योग्य स्त्रियों [वा उनके समान सज्जन प्रजाओं]में (अनावयाः) न पहुंचने वाला (असत्) होवे,[उसी प्रकार हे राजन् !] (यत्) जो कुछ [उसका बल] (आततम्) फैला हुआ है, (तत्) उसे (अव तनु) संकुचित करदे और (यत्) जो कुछ [सामर्थ्य] (उत्ततम्) ऊंचा फैला है, (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा सज्जनों के सतानेवाले अत्याचारियों को सदा वश में रक्खे ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य

३ । ४ । ८६ । एकारस्य ऐकारः । अपगच्छेत् (स्त्रीषु) अ० १ । ८ । १ । स्तूयते सा स्त्री, ष्टुञ् स्तुतौ—ड्रट्. ङीप् । स्तुत्यासु नारीषु यद्वा ताभिस्तुल्यासु सत्प्रजासु (अनावयाः) अन्+आङ्+वी गतौ—असुन् । अनागमनीयः (अवस्थस्य) अव हिंसायाम्—अव्+तिष्ठतेः—क । हिंसने स्थितिशीलस्य (क्रदिवतः) खनिकष्यज्यसि० । उ० ४ । १४० । क्रद आह्वानरोदनयोः—इ प्रत्ययः, मतुप्, रस्य नकारः, सांहितिको दीर्घः । संज्ञायाम् । पा० ८ । २ । ११ । मस्य वः । दुर्वचनशीलस्य (शाङ्करस्य) मन्दिवाशिमथि० । उ० १ । ३८ । शकि संशये, अन्तर्गतण्यर्थः—उरच् स्वार्थेऽण् । शङ्कोत्पादकस्य (नितोदिनः) तुद व्यथने-णिनि । नित्यपीडकस्य (यत्) सामर्थ्यम् (आततम्) आयतम् (तत्) (अवतनु) सङ्कोचय (यत्) (उत्ततम्) ऊर्ध्वविस्तृतम् (तत्) सामर्थ्यम् (नितनु) नितनं नीचीनं कुरु ॥

पतयः स्याम ॥ १ ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवः-भिः । सु-मृडीकः । भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (अवोभिः) अनेक रक्षाओं से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देनेवाला (भवतु) होवे। वह (द्वेषः) वैरियों को (बाधताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करनेवाले (स्याम) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों को नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ४७। १२। तथा १०। १३१। ६। और यजु०—२०। ५१ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु । तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (सुत्रामा) त्रैङ् पालने—मनिन्। अतिरक्षकः (स्ववान्) स्वा ज्ञातयः। प्रशस्तज्ञातियुक्तः (अवोभिः) रक्षणैः (सुमृडीकः) बहुसुखयिता (विश्ववेदाः) वेदांसि धनानि ज्ञानानि वा। बहुधनः। बहुज्ञानः। (बाधताम्) निवारयतु (द्वेषः) द्विष अप्रीतौ—क्विप्। द्वेष्टॄन् (अभयम्) निर्भयत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (सुवीर्यस्य) अतिपराक्रमस्य (पतयः) पालकाः (स्याम) भवेम ॥

सः । सु-त्रामा । स्व-वान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) महा प्रतापी राजा (अस्मत्) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुओं को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे । (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य) पूजा योग्य राजा की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करनेवाली (सौमनसे) प्रसन्नता में (स्याम)रहें ॥ १

भावार्थ—सब मनुष्य प्रजारक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-६ । ४७ । १३ । तथा १० । १३१ । ७ । और यजु० २० । ५२ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शूरलक्षणोपदेशः—शूरों के लक्षणों का उपदेश ॥

इन्द्रे॑ण मन्यु॒ना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृतन्य॒तः ।
घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । मन्यु॒ना॑ । व॒यम् । अ॒भि । स्या॒म । पृ॒त॒न्य॒तः ॥ घ्नन्तः॑ । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥ १ ॥

१—(सः) प्रसिद्धः (सुत्रामा) सुरक्षकः (स्ववान्) गतमन्त्रे । महाधनः (इन्द्रः) प्रतापी राजा (अस्मत्) अस्मत्तः (आरात्) दूरे (चित्) एव (द्वेषः) गतमन्त्रे । शत्रून् (सनुतः) स्वरादि निपातमव्ययम् । पा० १ । १ । ३७ । अव्यय-संज्ञा । सनुतः-निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । निर्णयपूर्वकम् । निश्चयी-कृतम् (युयोतु) यौतेः शपः श्लुः । निवारयतु (तस्य) (वयम्) (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (यज्ञियस्य) पूजार्हस्य (अपि) (भद्रे) कल्याणकरे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसन्नतायाम् (स्याम) ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) प्रतापी सेनापति के साथ और (मन्युना) क्रोध के साथ (वृत्राणि) [घेरनेवाले] सेनादलों को (अप्रति) बेरोक (घ्नन्तः) मारते हुये (वयम्) हम लोग (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वालों को (अभि स्याम्) हरा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ-शूर सेनानी के साथ समस्त सेना शूर होकर शत्रुओं को मारे॥१॥

सूक्तम् ८४ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्ञःस्तुत्युपदेशः—राजा की स्तुतिका उपदेश ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अव । सोमम् । नयामसि ॥ यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्-मनसः । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवम्) दृढ़ स्वभाव (सोमम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) आत्मदान वा भक्ति के साथ (अव नयामसि) हम स्वीकार करते हैं। (यथा) जिस से [वह] (इन्द्रः) प्रतापी राजा (नः) हमारे लिये (केवलीः) सेवास्वभाव वाली (विशः) प्रजाओं को (संमनसः) एक मन (करत्) कर देवे ॥ १ ॥

१—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सेनापतिना (मन्युना) क्रोधेन (वयम्) सैनिकाः (अभि स्याम) अभिभवेम (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् (घ्नन्तः) मारयन्तः (वृत्राणि) आवारकाणि सेनादलानि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् ॥

१—(ध्रुवम्) ध्रु स्थैर्ये—अच् । स्थिरम् (ध्रुवेण) दृढेन (हविषा) आत्मदानेन (सोमम्) षु ऐश्वर्ये—मन् । ऐश्वर्यवन्तम् (अव नयामसि) स्वीकुर्मः (यथा) येन प्रकारेण (नः)अस्मभ्यम् (इन्द्रः) प्रतापी (केवलीः) अ०२। १८ । २ केवल-ङीप् । सेवास्वभावाः । सेवनीयाः (विशः) प्रजाः (संमनसः) समानमनस्काः (करत्) कुर्यात्

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वान् राजा का अभिषेक करके प्रार्थना करें कि सब प्रजा को परस्पर मिलाकर प्रसन्न रक्खे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७३ । ६ । और यजु० ७ । २५ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ गृध्रौ देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधनिवारणोपदेशः—काम और क्रोध के निवारण का उपदेश ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः । उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्-इव । पेततुः ॥ उच्छोचन-प्रशोचनौ । अस्य । उत्-शोचनौ । हृदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जीव] के (श्यावौ) दोनों गति शील (विथुरौ) व्यथा देने वाले, (गृध्रौ) बड़े लोभी [काम क्रोध] (द्याम् इव) आकाश को जैसे (उत् पेततुः) उड़ गये हैं । (उच्छोचनप्रशोचनौ) अत्यन्त दुखाने वाले और सब ओर से दुखाने वाले दोनों (अस्य) इसके (हृदः) हृदय के (उच्छोचनौ) अत्यन्त दुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोधके वशीभूत होकर बड़ी बड़ी व्यर्थ कल्पनायें करके सदा दुखी रहते हैं ॥ १ ॥

१—(उत्) ऊर्ध्वम् (अस्य) जीवस्य (श्यावौ) अ० ५ । ५ । ८ । गतिशीलौ । कृष्णपीतवर्णौ वा (विथुरौ) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च । उ० १ । ३६ । व्यथ ताडने-उरच्, स च कित् । व्यथनशीलौ । चोरौ (गृध्रौ) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्-क्रन् । अतिलोभिनौ कामक्रोधौ (द्याम्) आकाशम् (इव) यथा (पेततुः) पत्लृ पतने-लिट् । गतवन्तौ (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोचयतेर्नन्द्यादित्वाल् ल्युः । उच्छोचयति अत्यन्तं दुःखयतीति उच्छोचनः, प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः, एवंविधौ कामक्रोधौ (अस्य) (प्राणिनः) (उच्छोचनौ) अत्यन्तं शोचयितारौ (हृदः) हृदयस्य ॥

अहमे॑नावुद॑तिष्ठिपं॒ गावौ॑ श्रा॒न्तस॑दाविव ।
कु॒र्कु॒रावि॑व॒ कूज॑न्तावु॒दव॑न्तौ॒ वृका॑विव ॥ २ ॥
अ॒हम् । ए॒नौ॒ । उत् । अ॒ति॒ष्ठि॒प॒म् । गावौ॑ । श्रा॒न्त॒सदौ॑-इव ॥
कु॒र्कु॒रौ॑-इव । कूज॑न्तौ । उ॒त्-अव॑न्तौ । वृकौ॑-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों को (उत् अतिष्ठिपम्) उठा दिया है, (इव) जैसे (श्रान्तसदौ) थक कर बैठे हुये (गावौ) दो बैलों को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते हुये (कुर्कुरौ) [कुर कुर करने वाले] कुत्तों को, और (इव) जैसे (उदवन्तौ) दो घुस आने वाले (वृकौ) भेड़ियों को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोध रूप शत्रुओं को विचार पूर्वक तुरन्त हटावें ॥ २ ॥

आ॒तो॒दिनौ॑ नितो॒दिना॒वथौ॑ संतो॒दिना॑वुत ।
अपि॑ नह्याम्यस्य॒ मेढ्रं॒ य इ॒तः स्त्री पुमा॑न् ज॒भार॑ ॥ ३ ॥
आ॒-तो॒दिनौ॑ । नि॒-तो॒दिनौ॑ । अथो॒ इति॑ । स॒म्-तो॒दिनौ॑ । उ॒त ॥ अपि॑ । न॒ह्या॒मि॒ । अ॒स्य॒ । मेढ्र॑म् । यः । इ॒तः । स्त्री । पुमा॑न् । ज॒भार॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अथो) और भी (आतोदिनौ) दोनों सब ओर से सताने वालों, (नितोदिनौ) नित्य सताने वालों, (उत) और (संतोदिनौ) मिलकर

२—(अहम्) विद्वान् (एनौ) पूर्वोक्तौ गृध्नौ कामक्रोधौ (उदतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ण्यन्ताल् लुङि चङि रूपम् । उत्थापितवानस्मि । अपसारितवानस्मि (गावौ) वृषभौ (श्रान्तसदौ) श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ निषीदन्तौ (कुर्कुरौ) कुर शब्दे—क्विप् + कुर शब्दे—क । कुरमिति शब्दं कुर्वन्तौ श्वानौ (इव) (कूजन्तौ) ध्वनिं कुर्वन्तौ (उदवन्तौ) अव प्रवेशे—शतृ । उद्गत्य प्रविशन्तौ (वृकौ) अ० ४ । ३ । १ । अरण्यश्वानौ (इव) ॥

३—(आतोदिनौ) तुद व्यथने-णिनि । सर्वतो व्यथनशीलौ (नितोदिनौ)

सताने वालों को (इतः) यहां पर [हमारे बीच] (यः) जिस किसी (स्त्री) स्त्री [वा] (पुमान्) पुरुष ने (जभार) स्वीकार किया है, (अस्य) उसके (मेढ्रम्) सेचनसामर्थ्य [बुद्धि शक्ति] को (अपि) सर्वथा (नह्यामि) मैं बांधता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष काम क्रोध में फंस जाते हैं, वे अनेक पाप बन्धनों में पड़कर शक्तिहीन और बुद्धिहीन होकर कष्ट भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९६ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधशान्त्युपदेशः—काम और क्रोध की शान्ति का उपदेश ॥

असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः । आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ॥ आ-स्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । वृक्कौ । अतिष्ठिपम् ॥१॥

भाषार्थ—(गावः) गौयें (सदने) बैठक में (असदन्) बैठ गयी हैं, (वयः) पक्षी ने (वसतिम्) घोंसले में (अपप्तत्) बसेरा लिया है । (पर्वताः) पहाड़ (आस्थाने) विश्राम स्थान पर (अस्थुः) ठहर गये हैं, (वृक्कौ) दोनों रोक डालने वाले वा रोकने योग्य [काम क्रोध] को (स्थाम्नि) स्थान पर

नितरां व्यथयन्तौ (अथो) अनन्तरम् (सन्तोदिनौ) सम्भूय व्यथाकारिणौ (उत) अपि (अपि) सर्वथा (नह्यामि) बध्नामि (अस्य) (प्राणिनः) (मेढ्रम) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । मिह सेचने—ष्ट्रन् । सेचनसामर्थ्यम् । बुद्धिशक्तिम् (यः) कश्चित् (इतः) अत्र । अस्मासु (स्त्री) (पुमान्) पुरुषः (जभार) हृञ् स्वीकारे । जहार । स्वीकृतवान् ॥

१—(असदन्) षद्लृ—लुङ् । निषण्णा अभूवन् (गावः) धेनवः (सदने) षद्लृ—ल्युट् । स्थाने (अपप्तत्) अ० ५ । ३० । ९ । अगमत् (वसतिम्) वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । वस निवासे—अति । नीडम् (वयः) वी गतौ असुन् । पक्षी (वृक्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति वृजी वर्जने कक् ।

(अतिष्ठिपम्) मैंने ठहरा दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (गृध्रौ) काम क्रोध का अर्थ गत सूक्त से आता है। जैसे गौयें आदि अपने २ स्थान पर विश्राम करते हैं, ऐसे ही मनुष्य काम क्रोध को विद्या आदि से शान्त करके प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है-अ० ६। ७७। १॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-८ ॥ १,२ इन्द्रः; ४, ७ विश्वे देवाः; ५, ६, ८ यज्ञो देवता ॥ १-४ त्रिष्टुप्; ५ आर्ची भुरिग् गायत्री; ६ प्राजापत्या बृहती; ७ साम्नी भुरिग् जगती; ८ उपरिष्टाद् बृहती छन्दः ॥

मनुष्य धर्मोपदेशः—मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीमही॒ह । ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥ १ ॥

यत् । अ॒द्य । त्वा॒ । प्र॒ऽय॒ति । य॒ज्ञे । अ॒स्मिन् । होत॒रिति॑ । चि॒कि॒त्व॒न् । अवृ॑णीमहि । इ॒ह ॥ ध्रु॒वम् । अ॒यः॒ । ध्रु॒वम् । उ॒त । श॒वि॒ष्ठ॒ । प्र॒ऽवि॒द्वान् । य॒ज्ञम् । उप॑ । या॒हि॒ । सोम॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये कि (अद्य) आज (त्वा) तुझको (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रयत्नसाध्य (यज्ञे) संगतियोग्य व्यवहार में, (चिकित्वन्) हे ज्ञानवान् ! (होतः) हे दानी पुरुष ! (इह) यहां पर (अवृणीमहि) हमने चुना है [वर्णा किया है] । (शविष्ठ) हे महाबली ! तू (ध्रुवम्) दृढ़ता

वर्जकौ वर्जनीयौ वा कामक्रोधौ गतमन्त्रात्। अन्यद् गतम्-अ०६ ।७७। १॥

१—(यत्) यतः (अद्य) वर्तमाने दिने (त्वा) त्वाम् (प्रयति) यती प्रयत्ने—क्विप्, यद्वा इण् गतौ-शतृ। प्रयत्नसाध्ये। प्रवर्तमाने (यज्ञे) संगन्तव्ये व्यवहारे (अस्मिन्)(होतः) दातः (चिकित्वन्) अ० ५। १२। १। हे ज्ञानवन्

से (उत) और भी (ध्रुवम्) दृढ़ता से (अयः) आ, (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (प्रविद्वान्) पहिले से जानने वाला तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप से (याहि) प्राप्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्या और बल प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें १

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में—३ । २९ ।१६ । और यजुर्वेद—८ । २० ॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेष । गोभिः । सम् । सूरि-भिः । हरि-वन् । सम् । स्वस्त्या ॥ सम् । ब्रह्मणा । देव-हितम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् । सु-मतौ । यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमें (मनसा) विज्ञान के साथ और (गोभिः) इन्द्रियों वा वाणियों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (हरिवन्) हे श्रेष्ठमनुष्यों वाले ! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (स्वस्त्या) अच्छी सत्ता [क्षेम कुशल] के साथ (सम्) ठीक ठीक (यत्) जो [ब्रह्म](देवहितम्) विद्वानों का हितकारक (अस्ति)है, [उस] (ब्रह्मणा)

(अवृणीमहि) वृञ् वरणे—लङ् । वयं वृतवन्तः । स्वीकृतवन्तः (ध्रुवम्) दृढत्वेन (अयः) अय गतौ—लेट् , परस्मैपदम् । आगच्छेः (ध्रुवम्) निश्चलं यथा तथा (उत) अपि (शविष्ठ) अ० ७ । २५ । १ । हे बलवत्तम (प्रविद्वान्) अग्रे जानन् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (उप) समीपम् (याहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् ॥

२—(सम्) सम्यक् । यथावत् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (नः) अस्मान् (मनसा) विज्ञानेन (नेष) णीञ् प्रापणे—लोटि शप् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लोपः । नय । प्रापय (गोभिः) इन्द्रियैर्वाग्भिर्वा (सूरिभिः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वद्भिः (हरिवन्) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रशस्तमनुष्ययुक्त (सम्) (स्वस्त्या)

ब्रह्म, वेद, धन, वा अन्न के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (सम्) ठीक ठीक (नेष) तू ले चल ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से मनस्वी, वाग्मी, और कार्य-कुशल होकर सब को उन्नति की ओर प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। ४२। ४ और यजु० ८। १५ ॥

यानाव॑ह उश॒तो दे॑व दे॒वांस्तान् प्रेर॑य॒ स्वे अ॑ग्ने स॒धस्थे॑।
ज॒क्षि॒वांसः॑ पपि॒वांसो॒ मधू॒न्य॑स्मै ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि ॥ ३ ॥

यान्। आ-अव॑हः। उ॒श॒तः। दे॒व॒। दे॒वान्। तान्। प्र।
ई॒र॒य॒। स्वे। अ॒ग्ने॒। स॒ध-स्थे॑ ॥ ज॒क्षि॒-वांसः॑। प॒पि॒-वांसः॑।
मधू॑नि। अ॒स्मै। ध॒त्त॒। व॒स॒वः॒। वसू॑नि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशमान अध्यापक! (यान्) जिन (उशतः) लालसा वाले (देवान्) विद्वानों को (आ अवहः) तू लाया है, (अग्ने) हे विद्वान्! (तान्) उन्हें (स्वे) अपनी (सधस्थे) बैठक में (प्र ईरय) ले चल। (वसवः) हे श्रेष्ठजनो! तुम (मधूनि) मधुर वस्तुओं को (जक्षिवांसः) खा चुककर और (पपिवांसः) पी चुककर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (वसूनि) उत्तम धनों को (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्वानों से शिक्षा लेकर श्रेष्ठ गुण प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है ८। १९ ॥

अ० १। ३०। २। सुलक्षया। क्षेमेण (सम्) (ब्रह्मणा) वेदेन धनेनान्नेन वा (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितम् (यत्) ब्रह्म (अस्ति) (सम्) (देवानाम्) विदुषाम् (सुमतौ) श्रेष्ठायां बुद्धौ (यज्ञियानाम्) पूजार्हाणाम् ॥

३—(यान्) वक्ष्यमाणान् (आ अवहः) वहेर्लङ् प्रापितवानसि (उशतः) वश कान्तौ—शतृ। कामयमानान् (देव) हे प्रकाशमानाध्यापक (देवान्) विदुषः (तान्) (प्रेरय) आनय (स्वे) स्वकीये (अग्ने) विद्वन् (सधस्थे) संगतिस्थाने (जक्षिवांसः) अ० ४। ७। ३। भक्षितवन्तः (पपिवांसः) पिबतेः—क्वसुः। वस्वेकाजाद्घसाम्। पा० ७। २। ६७। इडागमः। पीतवन्तः (मधूनि) मधुरवस्तूनि (अस्मै) विद्यार्थिने (धत्त) दत्त (वसवः) हे श्रेष्ठजनाः (वसूनि) श्रेष्ठानि धनानि ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः । वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

सु-गा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । आ-जग्म ॥ सवने । मा । जुषाणाः ॥ वहमानाः । भरमाणाः । स्वा । वसूनि । वसुम् । घर्मम् । दिवम् । आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारे लिये (सुगा) सुख से पहुंचने योग्य (सदना) आसनों को (अकर्म) हमने बनाया है, (ये) जो तुम [अपने] (सवने) ऐश्वर्य में (मा) मुझे (जुषाणाः) प्रसन्न करते हुये (आजग्म) आये हो (स्वा) अपनी (वसूनि) श्रेष्ठ वस्तुओं को (वहमानाः) पहुंचाते हुये और (भरमाणाः) पुष्ट करते हुये तुम (वसुम्) श्रेष्ठ (घर्मम्) दिन और (दिवम् अनु) व्यवहार के बीच (आ रोहत) चढ़ते जाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों का आदर मान करके अपनी उन्नति करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८ । १८ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५॥

यज्ञ । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञ-पतिम् । गच्छ ॥ स्वाम् । योनिम् । गच्छ । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यज्ञ) हे पूजनीय पुरुष ! (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को

४—(सुगा) अ० २ । २ । ४। सुखेन गन्तव्यानि (वः) युष्मभ्यम् (देवाः) हे विद्वांसः (सदना) आसनानि (अकर्म) वयं कृतवन्तः (ये) यूयम् (आजग्म) आगताः स्थ (सवने) ऐश्वर्ये (मा) माम् (जुषाणाः) प्रीणन्तः (वहमानाः) प्रापयन्तः (भरमाणाः) पोषयन्तः (स्वा) स्वकीयानि (वसूनि) श्रेष्ठानि वस्तूनि (वसुम्) श्रेष्ठम् (घर्मम्) दिनम् (दिवम्) दिवु व्यवहारे-क । व्यवहारम् (आ रोहत) आरूढा भवत (अनु) प्रति ॥

५—(यज्ञ) पूजनीय पुरुष (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (यज्ञपतिम्)

(गच्छ) प्राप्त हो, (यज्ञपतिम्) पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले को (गच्छ) प्राप्त हो। और (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के साथ (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहार और उत्तम मनुष्यों के साथसे अपने मनुष्य धर्मका कर्त्तव्य करता रहे ॥ ५ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है-८। २२ ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥६॥

एषः। ते। यज्ञः। यज्ञ-पते। सह-सूक्तवाकः॥ सु-वीर्यः। स्वाहा ॥६॥

भाषार्थ—(यज्ञपते) हे पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले पुरुष! (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] द्वारा (सहसूक्तवाकः) सुन्दर वचनोंके उपदेशोंके सहित (सुवीर्यः) बड़े वीरत्ववाला [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ-मनुष्य वेद मन्त्रोंके मनन और उपदेश से अपना पराक्रम बढ़ावें ६

यह मन्त्र कुछ भेदसे यजुर्वेद में है—८। २१ ॥

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट्। हुतेभ्यः। वषट्। अहुतेभ्यः॥ देवाः। गातु-विदः। गातुम्। वित्त्वा। गातुम्। इत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हुतेभ्यः) दिये हुये [माता पिता आदि से पाये हुये]

पूजनीयव्यवहारस्य पालकम् (गच्छ) (स्वाम्) स्वकीयाम् (योनिम्) प्रकृतिम्। स्वभावम् (गच्छ) (स्वाहा) अ० २। १६। १। सुवाण्या। वेदवाचा ॥

६—(एषः) (ते) तव (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (यज्ञपते) पूजनीयो व्यवहारस्य पालक (सहसूक्तवाकः) सह+सु+उक्त+वच परिभाषणे-घञ्। शोभनानामुक्तानां वचनानां वाकैर्भाषणैः सहितः (सुवीर्यः) उत्तमपराक्रमयुक्तः (स्वाहा) सुवाण्या ॥

७—(वषट्) अ० १। ११। १। वह प्रमाणे-डषटि। आहुतिः। भक्तिः

पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो], (अहुतेभ्यः) न दिये हुये [स्वयं प्राप्त किये हुये] पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो]। (गातुविदः) हे पृथिवी के जाननेवालो ! (देवाः) हे विजय चाहनेवाले वीरो ! (गातुम्) मार्ग को (वित्त्वा) पाकर (गातुम्) पृथिवी को (इत) प्राप्त हो॥ ७॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिसे पाये हुये और अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुये पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें। और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी होवें॥ ७॥

इस मन्त्र का उत्तरभाग यजुर्वेद में है—८। २१॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्। स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा॥८॥

मनसः। पते। इमम्। नः। दिवि। देवेषु। यज्ञम्॥ स्वाहा। दिवि। स्वाहा। पृथिव्याम्। स्वाहा। अन्तरिक्षे। स्वाहा। वाते। धाम्। स्वाहा॥ ८॥

भाषार्थ—(मनसःपते) हे मन के स्वामी [मनुष्य !] (इमम्) इस (नः) अपने [हमारे] (यज्ञम्) संगतिकरण व्यवहार को (दिवि) आकाशमें [वर्तमान] (देवेषु) दिव्य पदार्थों में (स्वाहा) सुन्दरवाणीके साथ, [अर्थात्] (दिवि) सूर्य में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (स्वाहा) सुन्दर वाणीके साथ, (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (स्वाहा) सुन्दर

(हुतेभ्यः)अ० ६।७१।२। मातापित्रादिभिर्दत्तेभ्यः पदार्थेभ्यः(वषट्) (अहुतेभ्यः) अदत्तेभ्यः। स्वपौरुषप्राप्तेभ्यः (देवाः) हे विजिगीषवः (गातुविदः) कमिमनिजनिगा०। उ० १।७३। गाङ् गतौ—तु। गातुः पृथिवीनाम-निघ० १।१। मार्गः। विद ज्ञाने—क्विप्। पृथिवीगुणानां ज्ञातारः (गातुम्) मार्गम् (वित्त्वा) विद्लृ लाभे—क्त्वा। लब्ध्वा (गातुम्) भूमिम्। भूमिराज्यम् (इत) प्राप्नुत॥

८—(मनसः) अन्तःकरणस्य (पते) स्वामिन् (इमम्) (नः) अस्माकम् (दिवि) आकाशे वर्तमानेषु (देवेषु) दिव्य पदार्थेषु (यज्ञम्) संगतिकरणव्यवहारम् (स्वाहा) सुवाण्या। वेदवाण्या द्वारा (दिवि) सूर्यलोके (पृ-

वाणी के साथ, (वाते) वायु में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (धाम्) मैं धारण करूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा अपनी मनन शक्ति बढ़ाकर सूर्यविद्या, पृथिवीविद्या, अन्तरिक्षविद्या और वायुविद्यामें निपुण होकर उपकार करें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछभेदसे यजुर्वेद में है —८ । २१ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्राह्यपदार्थप्राप्त्युपदेशः—ग्राह्य पदार्थ पाने का उपदेश ॥

सं ब॒र्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ ॥१॥

सम् । ब॒र्हिः । अ॒क्तम् । ह॒विषा॑ । घृ॒तेन॑ । सम् । इन्द्रे॑ण ।
वसु॑ना । सम् । म॒रुत्-भिः॑ ॥ सम् । दे॒वैः । वि॒श्व-दे॑वेभिः ।
अ॒क्तम् । इन्द्र॑म् । ग॒च्छ॒तु॒ । ह॒विः । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हविषा) ग्रहण से और (घृतेन) सेचन से (सम्) ठीक ठीक, (इन्द्रेण) ऐश्वर्य से और (वसुना) धन से (सम्) ठीक ठीक, (मरुद्भिः) विद्वानों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) सुधारा गया (बर्हिः) वृद्धि कर्म, और (देवैः) प्रकाशमान (विश्वदेवेभिः) सब उत्तम गुणों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) संभाला गया (हविः) ग्राह्य पदार्थ (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेद-

---

थिव्याम्) भूलोके (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वाते) वायुविद्यायाम् (धाम्) दधातेर्विधिलिङि छान्दसं रूपम् । धरेयम् । अन्यद् गतम् ॥

१—(सम्) सम्यक् । यथावत् (बर्हिः) अ० ५ । २२ । १ । बृहि वृद्धौ दीप्तौ च—इसि । वृद्धिकर्म (अक्तम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । सुधारितम् (हविषा) हु दानादानादनेषु—इसि ग्रहणेन (घृतेन) घृ सेचने—क्त । सेचनेन (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (वसुना) धनेन (मरुद्भिः) अ० १ । २० । १ । देवैः । विद्वद्भिः (देवैः) प्रकाशमानैः (विश्वदेवेभिः) सर्वदिव्यगुणैः (अक्तम्)

वाणी] के साथ (इन्द्रम्) प्रतापी पुरुष को (गच्छतु) पहुंचे॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न के साथ विद्या और धन की रक्षा और वृद्धि करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से यजुर्वेद में है—२ । २२॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ यजमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्रचारोपदेशः—विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् । होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि । वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः । अमुया । शयानाम् ॥ होतृ-सदनम् । हरितम् । हिरण्ययम् । निष्काः । एते । यजमानस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (वेदिम्) विद्या [वा यज्ञभूमि] (परि) सब ओर (स्तृणीहि) फैला और (परि) सब ओर (धेहि) पुष्टकर (अमुया) उस [विद्या] के साथ (शयानाम्) वर्तमान (जामिम्) गति को (मा मोषीः) मत लूट । (होतृषदनम्) दाता का घर (हरितम्) हरा भरा [स्वीकार योग्य] और (हिरण्ययम्) सोने से भरा [होता है], (एते) यह सब (निष्काः)

शोधितम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं जनम् (गच्छतु) प्राप्नोतु (हविः) ग्राह्यः पदार्थः (स्वाहा) सुवाण्या । वेदविद्यया ॥

१—(परि) सर्वतः (स्तृणीहि) स्तृञ् आच्छादने । छादय । विस्तारय (परि) परितः (धेहि) पोषय (वेदिम्) अ० ५ । २२ । १ । विद ज्ञाने—इन् । विद्यां यज्ञभूमिं वा (जामिम्) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या प्रापणे-मि । यस्य जः । यद्वा वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । जम गतौ-इञ् । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् । जमतेर्वास्याद्गतिकर्मणे निर्गमनप्राया भवति—निरु० ३ । ६ । गतिं प्रवृत्तिम् (मा मोषीः) मुष स्तेये-लुङ् । मा चोरय (अमुया) अनया

सुनहले अलङ्कार (यजमानस्य) यजमान [विद्वानों के सत्कार करने वाले] के (लोके) घर में [रहते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह महाधनी होकर सुखी रहता है॥ १ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुविचारनिवारणोपदेशः—कुविचार के हटाने का उपदेश ॥

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परि-आवर्ते । दुः-स्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ॥
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्न-मुखाः । शुचः ॥१॥

भाषार्थ—(दुष्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुये और (स्वप्न्यात्) स्वप्न में उठे हुये (पापात्) पाप से [प्राप्त] (अभूत्याः) अनैश्वर्यता [निर्धनता] से (पर्यावर्ते) मैं अलग हटता हूं। (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म [ईश्वर] को [अपने] (अन्तरम्) भीतर, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न के कारण से होने वाले (शुचः) शोकों को (परा) दूर (कृण्वे) करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में लवलीन होकर मन को ऐसा वश में करे कि स्वप्न में भी कुवासनायें न उठें ॥ १ ॥

वेद्या सह (शयानाम्) शीङ् शयने-शानच्। वर्तमानाम् (होतृषदनम्) दातृगृहम् (हरितम्) हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ९३। हृञ् हरणे, स्वीकारे—इतन्। स्वीकरणीयम्। शोभनम् (हिरण्ययम्) हिरण्यमयम्। सुवर्णयुक्तम् (निष्काः) नौ लद्वेर्डिश्च। उ० ३। ४५। नि+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-कन्, स च डित्। सुवर्णमया अलङ्काराः (एते) दृश्यमानाः (यजमानस्य) देवपूजकस्य (लोके) गृहे ॥

१—(पर्यावर्ते) पृथग् भवामि (दुष्वप्न्यात्) अ० ४। ९। ६। दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् (पापात्) अ० २। १२। ५। पातकात् (स्वप्न्यात्) स्वप्नभवात् (अभूत्याः) अनैश्वर्यत्वात्। निर्धनत्वात् (ब्रह्म) ईश्वरम् (अहम्) मनुष्यः (अन्तरम्) मध्ये। आत्मनि (कृण्वे) करोमि (परा) दूरे (स्वप्नमुखाः) स्वप्नप्रधानाः (शुचः) शोकान् ॥ २८

सूक्तम् १०१ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशोपदेशः—अविद्या के नाश का उपदेश ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्नामि । न । प्रातः । अधि-गम्यते ॥
सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तत् । दृश्यते । दिवा ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न में (अश्नामि) मैं खाता हूं, [वह] (प्रातः) प्रातःकाल (न) नहीं (अधिगम्यते) मिलता है । (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (तत्) वह (दिवा) दिन में (नहि) नहीं (दृश्यते) दीखता है ॥१॥

भावार्थ—जैसे इन्द्रियों की चंचलता से स्वप्न में खाया अन्न शरीर पोषक नहीं होता, वैसेही अविद्याजन्य सुख इष्टसाधक नहीं होता ॥ १ ॥

सूक्तम् १०२ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ विराट् पुरस्ताद् बृहती छन्दः ॥

उच्चपदप्राप्त्युपदेशः—ऊंचे पद पाने का उपदेश ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

नमः-कृत्य । द्यावापृथिवीभ्याम् । अन्तरिक्षाय । मृत्यवे ॥
मेक्षामि । ऊर्ध्वः । तिष्ठन् । मा । मा । हिंसिषुः । ईश्वराः ॥१॥

१—(यत्) यत्किञ्चित् (स्वप्ने) निद्रायाम् (अन्नम्) भोजनम् (अश्नामि) अश भोजने । खादामि (न) निषेधे (प्रातः) प्रभाते (अधिगम्यते) लभ्यते (सर्वम्) (तत्) स्वप्नफलम् (अस्तु) (मे) मह्यम् (शिवम्) मङ्गलकरम् (नहि) नैव (तत्) अन्नम् (दृश्यते) निरीक्ष्यते (दिवा) दिने ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठन्) ठहरता हुआ (मेक्षामि) मैं चलता हूं, (ईश्वराः) [कोई] बलवान् (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) न हानि करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करे ॥ १ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥



अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

द्रोहत्यागोपदेशः—द्रोह के त्याग का उपदेश ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् । को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्य-वत्याः । उत् । नेष्यति । क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ॥ कः । यज्ञ-कामः । कः । ऊं इति । पूर्ति-कामः । कः । देवेषु । वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

१—(नमस्कृत्य) सत्कृत्य । उपकृत्य (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूलोकाभ्याम् (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (मृत्यवे) अ० ५ । ३० । १२ । मृत्युं नाशयितुम् (मेक्षामि) म्यक्षति, मियक्षति, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ छान्दसं रूपम् । मियक्षामि । गच्छामि (ऊर्ध्वः) उच्चः (तिष्ठन्) स्थितिं कुर्वन् (मा) माम् (मा हिंसिषुः) मा नाशयन्तु (ईश्वराः) केऽपि बलवन्तः ॥

भाषार्थ—(वस्यः) उत्तम फल (इच्छन्) चाहता हुआ (कः) प्रजापति [प्रजा पालक प्रकाशमान वा सुखदाता] (क्षत्रियः) क्षत्रिय (नः) हमको (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) धिक्कारयोग्य (द्रुहः) डाह क्रिया से (उत् नेष्यति) उठावेगा। (कः) प्रजापति [मनुष्य] (यज्ञकामः) पूजनीय व्यवहार चाहने वाला और (कः) प्रजापति (उ) ही (पूर्तिकामः) पूर्ति [सिद्धि] चाहने वाला [होता है], (कः) प्रजापति [मनुष्य] (देवेषु) उत्तम गुणों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वनुते) मांगता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्रोह छोड़कर पुरुषार्थ करते हुये उत्तम गुण प्राप्त करके सुख बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्रचारोपदेशः—वेद विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

कः पृश्निं धे॒नुं वरु॑णेन द॒त्ताम॑थ॑र्वणे सु॒दुघां॒ नित्य॑वत्साम् ।
बृह॒स्पति॑ना स॒ख्यं᳡ जुषा॒णो य॑थाव॒शं त॒न्व᳡: कल्पयाति ॥१॥

कः । पृश्निम् । धे॒नुम् । वरु॑णेन । द॒त्ताम् । अथ॑र्वणे । सु॒ऽदुघा॑म् । नित्य॑ऽवत्साम् ॥ बृह॒स्पति॑ना । स॒ख्य॑म् । जु॒षा॒णः । य॒था॒ऽव॒शम् । त॒न्व᳡: । क॒ल्प॒या॒ति॒ ॥ १ ॥

१—(कः) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। कच दीप्तौ वा कमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौ च—ड प्रत्ययः। कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा-निरु० १०।२२। कमिति सुखनाम—निघ० ३।६। दीप्यमानः। सुखकारकः। प्रजापतिर्मनुष्यः (अस्याः) वर्तमानायाः (नः) अस्मान् (द्रुहः) द्रुह जिघांसायाम्—क्विप्। द्रोहक्रियायाः। दुर्गतेः सकाशात् (अवद्यवत्याः) निन्द्यकर्मयुक्तायाः (उन्नेष्यति) उद्धरिष्यति (क्षत्रियः) अ० ४।२२।१। क्षत्रे राज्ये साधुः (वस्यः) अ० ६।४७।३। वसीयः। प्रशस्तं फलम् (इच्छन्) अभिलष्यन् (कः) (यज्ञकामः) पूजनीयव्यवहारं कामयमानः (कः) (उ) एव (पूर्तिकामः) सिद्धिकामः (कः) (देवेषु) उत्तमगुणेषु वर्तमानः (वनुते) वनु याचने। याचते (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—(कः) प्रकाशमान [प्रजापति मनुष्य] (बृहस्पतिना) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [परमेश्वर] के साथ (यथावशम्) इच्छानुसार [अपने] (तन्वः) शरीर की (सख्यम्) मित्रता का (जुषाणः) सेवन करता हुआ, (अथर्वणे) निश्चल स्वभाव वाले पुरुष को (वरुणेन) श्रेष्ठ परमात्मा करके (दत्ताम्) दी हुई, (सुदुघाम्) अत्यन्त पूरण करनेवाली, (नित्यवत्साम्) नित्य उपदेश करने वाली, (पृश्निम्) प्रश्न करने योग्य (धेनुम्) वाणी [वेद-वाणी] को (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की दी हुई कल्याणी वेदवाणी को ईश्वर-भक्ति के साथ संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पवित्रजीवनोपदेशः—पवित्र जीवन का उपदेश ॥

अ॒प॒क्राम॒न् पौरु॑षेयाद् वृणा॒नो दैव्यं॒ वचः॑ ।
प्रणी॑तीर॒भ्याव॑र्तस्व॒ विश्वे॑भिः॒ सखि॑भिः स॒ह ॥ १ ॥

अ॒प॒-क्राम॑न् । पौरु॑षेयात् । वृ॒णा॒नः । दैव्य॑म् । वचः॑ ॥ प्र-नी॑तीः । अ॒भि॒-आव॑र्तस्व । विश्वे॑भिः । सखि॑-भिः । स॒ह ॥१॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पौरुषेयात्) पुरुषवध से (अपक्रामन्)

१—(कः) गतसूक्ते व्याख्यातः । प्रकाशमानः प्रजापतिः पुरुषः (पृश्निम्) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—नि । प्रष्टव्याम् (धेनुम्) अ० ३ । १० । १ । वाचम्-निघ० १ । ११ । वेदवाणीम् (वरुणेन) श्रेष्ठेन परमेश्वरेण (दत्ताम्) (अथर्वणे) अ० ४ । ३७ । १ । निश्चलस्वभावाय योगिने (सुदुघाम्) अ० ७ । ७३ । ७ । सुष्ठु पूरयित्रीम् (नित्यवत्साम्) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—स प्रत्ययः । नित्योपदेशिकाम् (बृहस्पतिना) बृहतां लोकानां पालकेन । परमात्मना सह (सख्यम्) मित्रभावम् (जुषाणः) सेवमानः (यथावशम्) यथेच्छम् (तन्वः) शरीरस्य (कल्पयाति) कल्पयतेर्लेटि आडागमः । समर्थयेत् ॥

१—(अपक्रामन्) अपगच्छन् (पौरुषेयात्) पुरुषाद् वधविकारसमू-

हटता हुआ, (दैव्यम्) दिव्य [परमेश्वरीय] (वचः) वचन (वृणानः) मानता हुआ तू (विश्वेभिः) सब (सखिभिः सह) सखाओं [साथियों] सहित (प्रणीतीः) उत्तमनीतियों [ब्रह्मचर्य स्वाध्याय आदि मर्य्यादाओं] का (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से वर्ताव कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अमृतत्वप्राप्त्युपदेशः—अमरपन पाने का उपदेश ॥

यदस्मृ॑ति चकृ॒म किं चि॑दग्न उपारि॒म चर॑णे जातवेदः।
तत॑: पाहि॒ त्वं न॑: प्रचेतः शुभे सखि॑भ्यो अमृत॒त्वम॑स्तु नः ॥१॥

यत् । अस्मृ॑ति । च॒कृ॒म । किम् । चि॒त् । अ॒ग्ने॒ । उ॒प॒-आ॒रि॒म । चर॑णे । जा॒त॒-वे॒दः॒ ॥ तत॑: । पा॒हि॒ । त्वम् । नः॒ । प्र॒-चे॒तः॒ । शु॒भे । सखि॑-भ्यः । अ॒मृ॒त॒-त्वम् । अ॒स्तु॒ । नः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (यत् किं चित्) जो कुछ भी [दुष्कर्म] (अस्मृति) विस्मरण [भूल, आगे पीछे के बिना विचार] से (चकृम) हमने किया है, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ! [अपने] (चरणे) आचरण में (उपारिम) हमने अपराध किया है । (प्रचेतः) हे

हतेनकृतेषु । वा० पा० ५ । १ । १० । इति पुरुष—ढञ् ,ढस्य एय् । पुरुषवधात् (वृणानः) स्वीकुर्वन् (दैव्यम्) देव—यञ् । देवात् परमेश्वरादागतम् (वचः) वाक्यं वेदलक्षणम् (प्रणीतीः) प्रकृष्टा नीतीः । ब्रह्मचर्य्यस्वाध्यायादिमर्य्यादाः (अभ्यावर्तस्व) अभितः प्रवर्तय ॥

१—(यत्) दुष्कर्म (अस्मृति) यथा तथा । स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मफलानुसन्धानरहितम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (किंचित्) किमपि (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (उप-आरिम) ऋ हिंसायाम्—लिट् । वयमपराद्धवन्तः (चरणे) आचरणे (जातवेदः) हे जातानां वेदितः (ततः) तस्मात्

महाविद्वान् ! (ततः) उससे (त्वम्) तू (नः) हमें (पाहि) बचा, (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) सखाओं को (शुभे) कल्याण के लिये (अमृतत्वम्) अमरपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों से यदि आगा पीछा विना विचारे अपराध हो जावे, उसका प्रायश्चित्त करके और आगे को अपराध त्याग कर शुभकर्म करके कीर्त्ति-मान् होवे ॥ १ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परदुःखनाशोपदेशः—परस्पर दुःख नाश का उपदेश ॥

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मय॑: ।

आप॑: समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥ १ ॥

अव॑ । दि॒वः । ता॒र॒य॒न्ति॒ । स॒प्त । सूर्य॑स्य । र॒श्मय॑: ॥ आप॑: । स॒मु॒द्रियाः॑ । धारा॑: । ताः । ते॒ । श॒ल्यम् । अ॒सि॒स्र॒स॒न् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त) सात [वा नित्य मिली हुई] (रश्मयः) किरणें (दिवः) आकाश से (समुद्रियाः) अन्तरिक्ष में रहने वाले (धाराः) धारारूप (आपः) जलों को (अव तारयन्ति) उतारती हैं, (ताः) उन्होंने (ते) तेरी (शल्यम्) कील [क्लेश] को (असिस्रसन्) बहादिया है॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें जल बरसा कर दुर्भिक्ष आदि पीड़ायें दूर करती हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर दुःख नाश करें ॥ १ ॥

(पाहि) रक्ष (त्वम्) (नः) अस्मान् (प्रचेतः) हे प्रकृष्टज्ञान (शुभे) कल्याणाय (सखिभ्यः) तव प्रियभूतेभ्यः (अमृतत्वम्) अमरत्वम् । दुःखराहित्यम् (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥

१—(दिवः) आकाशात् (अवतारयन्ति) अवपातयन्ति (सप्त) अ० ४ । ६ । २ । सप्तसंख्याकाः । समवेताः (सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मयः) व्यापकाः किरणाः (आपः) द्वितीयार्थे प्रथमा । अपः । जलानि (समुद्रियाः) अ० ७ । ७ । १ । अन्तरिक्षे भवाः (धाराः) प्रवाहरूपाः (ताः) (आपः) (ते) तव (शल्यम्) अ० २ । ३० । ३ । बाणाग्रभागम् । क्लेशमित्यर्थः (असिस्रसन्) स्रंसु गतौ, ण्यन्ताल्लुङि चङि । अनिदितां हल० पा० ६ । ४ । २४ । उपधानकारलोपः । सन्वल्लघुनि० । पा० ७ । ४ । ९३ । इति सन्वद्भावात् । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७९ । अभ्यासस्य इत्वम् । णिचा रितप्रत्ययः ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने । प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् । अरणः । वा । नः । अग्ने ॥ प्रतीची । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने । वास्तु । भूत् । मो इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (यः) जो कोई (नः) हमें (तायत्) छिपे छिपे, (यः) जो कोई (नः) हमें (आविः) खुले खुले, (दिप्सति) सताना चहता है, (नः) हमें (विद्वान्) जानता हुआ (स्वः) अपना पुरुष, (वा) अथवा (अरणः) बाहिरी पुरुष । (प्रतीची) चढ़ाई करती हुई, (दत्वती) दमनशीला, (अरणी) शीघ्रगामिनी वा मारनेवाली [सेना] (तान्)

१—(यः) कश्चित् (नः) अस्मान् (तायत्) अ० ४ । १६ । १ । तायृ सन्तानपालनयोः—अति । तायुः स्तेनः-निघ० ३ । २४ । तायत्, अन्तर्हितनामैतत्—इति सायणः । अप्रकाशम् । गुप्तम् (दिप्सति) अ०।४।३६।२। हिंसितुमिच्छति (यः) (नः) अस्मान् (आविः) अर्चिशुचि०। उ० २ । १०८ । आ+अव रक्षणे—इसि । आविरावेदनात्—निरु० ८ । १५ । प्रकाशम् (स्वः) स्वकीयो बन्धुः (विद्वान्) जानन् (अरणः) अ० १ । १९ । ३ । विदेशीयः (वा) अथवा (नः) अस्मान् (अग्ने) विद्वन् । तेजस्विन् राजन् (प्रतीची) अ० ३ । २७ । ३ । अभिमुखं गच्छन्ती (एतु) गच्छतु (अरणी) अर्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ गतौ हिंसायां च-अनि, ङीप् । शीघ्रगामिनी । शत्रुनाशिनी सेना (दत्वती) अ० ४ । ३ । २ । हसिमृग्रिण्वामिदमि० । उ० ३ । ८६ । दमु उपशमे-तन् । दन्त-मतुप्, ङीप् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दत् । दन्तवती । दमनशीला (तान्)

उनपर (एतु) पहुंचे, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (एषाम्) इनका (मा) न तो (वास्तु) घर (मो) और न (अपत्यम्) बालक (भूत्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी अधर्मियों का नाश करके धर्म्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः । वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभि-दासात् । तिष्ठतः । वा । चरतः । जात-वेदः ॥ वैश्वानरेण । स-युजा । स-जोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह । जात-वेदः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले राजन् ! (यः) जो कोई पुरुष (सुप्तान्) सोते हुये, (वा) वा (जाग्रतः) जागते हुये, (तिष्ठतः) ठहरे हुये, (वा) वा (चरतः) चलते हुये (नः) हम को (अभिदासात्) सतावे । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध धन वाले राजन् ! (वैश्वानरेण) सब नरोंके हितकारी (सयुजा) समानमित्र [परमेश्वर] के साथ (सजोषाः) प्रीति वाला तू (प्रतीचः) चढ़ाई करनेवाले (तान्) उनको (निः) निरन्तर (दह) भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के सहाय से आत्मबल बढ़ाकर सब डाकू उचक्कों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

शत्रून् (मा) निषेधे (एषाम्) शत्रूणाम् (अग्ने) राजन् (वास्तु) वसेरगारे णिच्च । उ० १ । ७० । वस निवासे—तुन्, स च णित् । गृहम् (मो भूत्) मैव भूयात् (अपत्यम्) पुत्रादिकम् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सुप्तान्) निद्राणान् (जाग्रतः) अ० ६ । ६६ । ३ । प्रबुद्ध्यमानान् (वा) (अभिदासात्) अ० ५ । ६ । १० । अभितो दास्नुयात् । हिंस्यात् (तिष्ठतः) स्थितियुक्तान् (वा) (चरतः) चलनशीलान् (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धज्ञान (वैश्वानरेण) अ0 १ । १० । ४ सर्वनरहितेन (सयुजा) समानमित्रेण । परमेश्वरेण (सजोषाः) सहप्रीतिः (तान्) शत्रून् (प्रतीचः) अ० १ । २८ । २ । प्रतिकूलगतीन् (निः) निरन्तरम् (दह) भस्मसात् कुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन ॥

सूक्तम् १०९ ॥

१-७ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् ॥

व्यवहारसिद्ध्युपदेशः—व्यवहार सिद्धि का उपदेश ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनू-वशी ॥
घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (उग्राय) तेजस्वी (बभ्रवे) पोषक [परमेश्वर] को है, (यः) जो (अक्षेषु) व्यवहारों में (तनूवशी) शरीरों का वश में रखनेवाला है। (घृतेन) प्रकाश के साथ (कलिम्) गिनने वाले [परमेश्वर] को (शिक्षामि) मैं सीखता हूं, (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडाति) सुखी करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर की उपासना करके उत्तम कर्मों के साथ सुख भोगें ॥ १ ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च । यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

१—(इदम्) (उग्राय) तेजस्विने (बभ्रवे) अ० ४ । २९ । २ । पोषकाय (नमः) नमस्कारः (यः) परमेश्वरः (अक्षेषु) अ० ४ । ३८ । ४ व्यवहारेषु (तनूवशी) अ० १ । ७ । २ । शरीराणां वशयिता (घृतेन) प्रकाशेन (कलिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । कल शब्दसंख्यानयोः-इन् । गणकम् । गणपतिं परमेश्वरम् (शिक्षामि) शिक्ष विद्योपादाने-लट्, परस्मैपदं छान्दसम् । शिक्षे । अभ्यस्यामि (सः) कलिः (नः) अस्मान् (मृडाति) सुखयेत् (ईदृशे) एवंप्रकारे पुण्यकर्मणि ॥

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । अक्षेभ्यः । सिकताः । अपः । च ॥ यथा-भागम् । हव्य-दातिम् । जुषाणाः । मदन्ति । देवाः । उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में व्यापक शक्तियों] के लिये और (अक्षेभ्यः) व्यवहारों [की सिद्धि] के लिये (पांसून्) धूलि [भूमिस्थलों] से (च) और (सिकताः) सींचनेवाले (अपः) जलों से (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] (वह) पहुंचा । (देवाः) विद्वान् लोग (यथाभागम्) भाग के अनुसार (हव्यदातिम्) ग्राह्य पदार्थों के दान का (जुषाणाः) सेवन करते हुये (उभयानि) पूर्ण (हव्या) ग्राह्य पदार्थों को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमिविद्या, जलविद्या आदि में निपुण होकर आत्मपोषण और समाजपोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावें ॥ २ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च । ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

अप्सरसः । सध-मादम् । मदन्ति । हविः-धानम् । अन्तरा ।

२—(घृतम्) सारपदार्थम् (अप्सराभ्यः) अ० २ । २ । ३ । अप्सु प्रजासु सरणशीलाभ्यो व्यापिकाभ्यः शक्तिभ्यः (वह) द्विकर्मकः । प्रापय (त्वम्) (अग्ने) विद्वन् पुरुष (पांसून्) अर्जिदृशिकम्यमिपसि० । उ० १ । २७ । इति पसि नाशने—कु, दीर्घश्च । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्ना शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा—निरु० १२ । १९ । धूलिकणान् । भूमिस्थलानीत्यर्थः (अक्षेभ्यः) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहारान् साधितुम् (सिकताः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । सिक सेचने—अतच्, स च कित् । सेचनसमर्थाः (अपः) जलानि (च) (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य (हव्यदातिम्) हव्यानां ग्राह्यपदार्थानां दानम् (जुषाणाः) सेवमानाः (मदन्ति) आनन्दयन्ति (देवाः) विद्वांसः (उभयानि) ग्लिम्लितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । इति उभ पूरणे—कयन् । पूर्णानि (हव्या) ग्राह्यवस्तूनि ॥

सूर्यम् । च ॥ ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सुपत्नम् । मे । कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश में व्यापक शक्तियां [वायु, जल, बिजुली आदि] (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थों के आधार [भूलोक] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) सूर्य के बीच (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदन्ति) भोगती हैं (ताः) वे (मे) मेरे (हस्तौ) दोनों हाथ (घृतेन) घृत [सार पदार्थ] से (सं सृजन्तु) संयुक्त करें, और (मे) मेरे (कितवम्) ज्ञान नाशक [ठग, जुआरी] (सपत्नम्) बैरी को (रन्धयन्तु) नाश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु, जल, बिजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुःख नाश करें ॥ ३ ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥

आदिनवम् । प्रति-दीव्ने । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ॥
वृक्षम्-इव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रति-दीव्यति ॥४॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (प्रतिदीव्ने) प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के नाश करने को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अस्मान् अभि) हमारे ऊपर (आदिनवम्) प्रथम नवीन वा स्तुतिवाले [बोध] को (क्षर) छिड़क । (यः)

३—(अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे सरणशीलाः । वायुजलविद्युदादयः (मदन्ति) हर्षयन्ति (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थानामाधारं भूलोकम् (अन्तरा) मध्ये (सूर्यम्) (च) (ताः) अप्सरसः (मे) मम (हस्तौ) (सं सृजन्तु) संयोजयन्तु (घृतेन) सारपदार्थेन (सपत्नम्) शत्रुम् (मे) मम (कितवम्) अ० ७ । ५० । १ । ज्ञाननाशकम् । वञ्चकम् । द्यूतकारम् (रन्धयन्तु) अ० ४ । २२ । १ । नाशयन्तु ॥

४—(आदिनवम्) णु स्तुतौ—अप् । आदौ प्रथमं नवो नूतनो यस्तम्, अथवा नवः स्तवो यस्य तं बोधम् (प्रतिदीव्ने) कनिन् युवृपितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । प्रति + दिवु व्यवहारे—कनिन् । वा दीर्घः । क्रियार्था-

जो (अस्मान्) हम से (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूल व्यवहार करता है, [उसे] (जहि) मार डाल, (वृक्षम् इव) जैसे वृक्ष को (अशन्या) बिजुली से ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिक ज्ञान से अपने विरोधी शत्रु वा अज्ञान का सर्वथा नाश करें ॥ ४ ॥

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥५॥

यः । नः । द्युवे । धनम् । इदम् । चकार । यः । अक्षाणाम् । ग्लहनम् । शेषणम् । च ॥ सः । नः । देवः । हविः । इदम् । जुषाणः । गन्धर्वेभिः । सध-मादम् । मदेम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (नः) हमारे (द्युवे) आनंद के लिये (इदं धनम्) यह धन, और (यः) जिसने (अक्षाणाम्) व्यवहारों का (ग्लहनम्) ग्रहण (च) और (शेषणम्) विशेषपन [ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन] (चकार) बनाया है। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल [परमेश्वर] (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) दान [भक्तिदान] को (जुषाणः) स्वीकार करनेवाला [हो, कि] (गन्धर्वेभिः) विद्या वा पृथिवी

पपदस्य च० । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । प्रतिदिवानं प्रतिकूलव्यवहारिणं नाशयितुम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्) धार्मिकान् (अभि) प्रति (क्षर) क्षर संचलने । वर्षय (वृक्षम्) (इव) यथा (अशन्या) विद्युता (जहि) मारय (यः) शत्रुः (अस्मान्) (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूलं व्यवहरति ॥

५—(यः) परमेश्वरः (नः) अस्मदीयाय (द्युवे) दिवु मोदे—क्विप् । आनन्दाय (धनम्) (इदम्) (चकार) कृतवान् (यः) (अक्षाणाम्) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहाराणाम् (ग्लहनम्) रस्य लः । ग्रहणम् (शेषणम्) शिष्लृ विशेषणे-ल्युट् । विशेषणम् । गुणप्रकाशनं यथा ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं च (च) (सः) (नः) अस्माकं (देवः) व्यवहारकुशलः परमेश्वरः (हविः) दानम् । आत्मसमर्पणम् (इदम्) वक्ष्यमाणम् (जुषाणः) सेवमानः । भवतु-

के धारण करने वाले [मनुष्यों] के साथ (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदेम) हम भोगें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य आदि गुरु परमेश्वर के अनुग्रह से सब व्यवहारों में कुशल होकर, विद्वानों के सत्संग से उन्नति करें ॥ ५ ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

सम्-वसवः । इति । वः । नाम-धेयम् । उग्रम्-पश्याः । राष्ट्र-भृतः । हि । अक्षाः ॥ तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (संवसवः) "सम्यक् धनवाले, वा मिल के रहने वाले" (इति) यह (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम है, (हि) क्योंकि [तुम] (उग्रंपश्याः) उग्रदर्शी [बड़े तेजस्वी] (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषक और (अक्षाः) व्यवहार कुशल (हो) । (इन्दवः) हे बड़े ऐश्वर्यवालो ! (तेभ्यः वः) उन तुम को (हविषा) आत्मदान से (विधेम) हम पूजें, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग और सत्कार से अनेक धन प्राप्त करें ॥ ६ ॥

इति शेषः (गन्धर्वेभिः) अ०२ । १ । २ । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकैः पुरुषैः (सधमादम्) परस्परानन्दम् (मदेम) हृष्येम ॥

६—(संवसवः) सम्यग् वसूनि धनानि येषां ते यद्वा, सम्यग् वासयितारः (इति) एवंप्रकारेण (वः) युष्माकम् (नामधेयम्) नाम (उग्रंपश्याः) उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । उग्र + दृशिर् प्रेक्षणे—खश् । उग्रदर्शिनः । महातेजस्विनः (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषकाः (हि) यस्मात्कारणात् (अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारवन्तः (तेभ्यः) तथाभूतेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (इन्दवः) अ० ६ । २ । २ । हे परमैश्वर्यवन्तः (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरणं कुर्याम (वयम्) (स्याम) (पतयः) (रयीणाम्) विविधधनानाम् ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥
देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्म-चर्यम् । यत् । ऊषिम ॥
अक्षान् । यत् । बभ्रून् । आ-लभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ॥७॥

भाषार्थ—(यत्) जिस से कि (नाथितः) प्रार्थी मैं (देवान्) विद्वानों को (हुवे) बुलाता हूं, (यत्) जिस से कि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य [आत्मनिग्रह, वेदाध्ययन आदि तप] में (ऊषिम) हमने निवास किया है। (यत्) जिससे कि (बभ्रून्) पालन करनेवाले (अक्षान्) व्यवहारोंको (आलभे) मैं यथावत् ग्रहण करता हूं, (ते) वे सब [विद्वान्] (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडन्तु) सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति, ब्रह्मचर्य सेवन और उत्तम व्यवहारों से सुखी होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१-३ ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ १ गायत्री ; २ त्रिष्टुप् ; ३ अनुष्टुप् ॥
राजमन्त्रिणोः कर्त्तव्योपदेशः—राजा और मन्त्रीके कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति ।
उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥
अग्ने । इन्द्रः । च । दाशुषे । हतः । वृत्राणि । अप्रति ॥
उभा । हि । वृत्रहन्-तमा ॥ १ ॥

७—(देवान्) विदुषः (यत्) यस्मात्कारणात् (नाथितः) नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु—क्त । प्रार्थी (हुवे) आह्वयामि (ब्रह्मचर्यम्) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे । पा० ३ । १ । १०० । ब्रह्म+चर गतौ—यत् । ब्रह्मणे वेदलाभाय चर्या चरणम् । आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादितपः (यत्) यस्मात् (ऊषिम) वस निवासे-लिट् । वयमुषितवन्तः (अक्षान्) व्यवहारान् (यत्) (बभ्रून्) भरणशीलान् (आलभे) समन्ताद् गृह्णामि (ते) विद्वांसः (नः) अस्मान् (मृडन्तु) सुखयन्तु (ईदृशे) एवं विधे धार्मिके कर्मणि ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (च) और (अग्ने) हे तेजस्वी मन्त्री ! [आप दोनों] (दाशुषे) दानशील [प्रजागण] के लिये (वृत्राणि) रोकावटों को (अप्रति) बे रोक टोक (हतः) नाश करते हैं। (हि) क्योंकि (उभा) दोनों (वृत्रहन्तमा) रोकावटों के अत्यन्त नाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा और विद्वान् मन्त्री शत्रुओं से प्रजाकी रक्षा करें॥१॥

याभ्यामजयन्त्स्वऽरग्रऽएव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहूअग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥२॥

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आ-तस्थतुः । भुवनानि । विश्वा ॥ प्रचर्षणी इति प्र-चर्षणी । वृषणा । वज्रबाहू इति वज्र-बाहू । अग्निम् । इन्द्रम् । वृत्र-हना । हुवे । अहम् २

भाषार्थ—(याभ्याम्) जिन दोनोंके द्वारा (एव) ही उन्होंने [महात्माओंने] (स्वः) स्वर्ग [सुख] को (अग्रे) पहिले (अजयन्) जीता था [पाया था], (यौ) जो दोनों (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (आतस्थतुः) ठहरगये हैं। [उन दोनों] (प्रचर्षणी) शीघ्र गामी वा अच्छे मनुष्यों वाले, (वृषणा) शूर, (वज्रबाहू) वज्र [लोह समान दृढ़] भुजाओं वाले, (वृत्रहणा) रोकावटें नाश करनेवाले (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवाले राजा और (अग्निम्) तेजस्वी मन्त्री को (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण पहिले से राजा और मन्त्री के प्रबन्ध में सुखी रहे हैं, वैसेही सदा रहें ॥ २ ॥

१—(अग्ने) हे तेजस्विन् मन्त्रिन् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवन् राजन्—इत्यर्थः (च) (दाशुषे) दानशीलाय प्रजागणाय (हतः) भवन्तौ नाशयतः (वृत्राणि) आवरकाणि कर्माणि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (उभा) द्वौ (हि) यतः (वृत्रहन्तमा) विघ्नानां नाशयितृतमौ ॥

२—(याभ्याम) राजमन्त्रिभ्याम् (अजयन्) प्राप्तवन्तो महात्मानः (स्वः) अ० २।५।२। सुखम् (अग्रे) पूर्वकाले (एव) अवश्यम् (यौ) (आतस्थतुः) व्याप्तवन्तौ (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा) सर्वाणि (प्रचर्षणी) अ० ४।२४।३। शीघ्रगामिनौ। प्रकृष्टमनुष्यवन्तौ (वृषणा) इन्द्रौ। पराक्रमिणौ (वज्रबाहू) वज्रवल्लौहतुल्यौ दृढौ बाहू ययोस्तौ (अग्निम्) तेजस्विनं मन्त्रिणम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं राजानम् (वृत्रहणा) विघ्ननाशकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) प्रजागणः ॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॑ग्रभीच्चम॒सेन॒ बृह॒स्पति॑ः ।
इन्द्र॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ३ ॥

उप॑ । त्वा॒ । दे॒वः । अ॒ग्र॒भी॒त् । च॒म॒सेन॑ । बृह॒स्पति॑ः ॥ इन्द्र॑ । गी॒ः-भिः॑ । नः॒ । आ । वि॒श॒ । यज॑मानाय । सु॒न्व॒ते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (त्वा) तुझे (देवः) प्रकाशमान, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमेश्वर ने (चमसेन) अन्न के साथ (उप अग्रभीत्) सहारा दिया है। तू (गीर्भिः) वाणियों [स्तुतियों] के साथ (यजमानाय) संयोग वियोग करनेवाले (सुन्वते) तत्त्व मथन करनेवाले पुरुष के लिये (नः) हम में (आ विश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से विवेकी धर्मात्माओं का सहाय करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१ ॥ ईश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्र॑स्य कु॒क्षिर॑सि सोम॒धान॑ आ॒त्मा दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम् । इ॒ह प्र॒जा ज॑नय॒ यास्त॑ आ॒सु या अ॒न्यत्रे॒ह तास्ते॑ रमन्ताम् ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । कु॒क्षिः । अ॒सि॒ । सो॒म॒-धान॑ः । आ॒त्मा । दे॒वाना॑म् । उ॒त । मानु॑षाणाम् ॥ इ॒ह । प्र॒-जाः । ज॒न॒य॒ । याः । ते॒ । आ॒सु ।

३—(उप) समीपे (त्वा) त्वां राजानम् (देवः) प्रकाशमानः (अग्रभीत्) अग्रहीत्। गृहीतवान् (चमसेन) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नेन (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (गीर्भिः) वाणीभिः। स्तुतिभिः (नः) अस्मान् (आ विश) प्रविश। प्राप्नुहि (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकाय (सुन्वते) तत्त्वमथनशीलाय ॥

याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य का (कुक्षिः) कोख रूप, (सोमधानः) अमृत का आधार, (देवानाम्) दिव्य लोकों [सूर्य, पृथिवी आदि] का (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (आत्मा) आत्मा [अन्तर्यामी] (असि) है। (इह) यहां पर (प्रजाः) प्रजाओं को (जनय) उत्पन्न कर, (याः) जो (ते) तेरे लिये [तेरी आज्ञाकारी] (आसु) इन [प्रजाओं] में, और (याः) जो (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [हों] (इह) यहां पर (ताः) वे सब (ते) तेरे लिये (रमन्ताम्) विहार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य निकट और दूर स्थान में ईश्वर की आज्ञा मानते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१-२ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

इन्द्रियजयोपदेशः—इन्द्रियों के जय का उपदेश ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्ति-सुम्ने । महिव्रते इति महि-व्रते ॥ आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शुम्भनी) शोभायमान (द्यावपृथिवी) सूर्य और पृथिवी

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (कुक्षिः) अ० २ । ५ । ४ । कुक्षिरूपः (सोमधानः) अमृताधारः (आत्मा) अन्तर्यामी (देवानाम्) सूर्यपृथिव्यादिदिव्यलोकानाम् (उत) अपि (मानुषाणाम्) मनुष्याणाम् (इह) (प्रजाः) मनुष्यादिरूपाः (जनय) उत्पादय (याः) प्रजाः (ते) तुभ्यम् । तवाज्ञापालनाय (आसु) प्रजासु (याः) (अन्यत्र) अन्यस्मिन् देशे (इह) अत्र (ताः) प्रजाः (ते) तुभ्यम् (रमन्ताम्) विहरन्तु ॥

१—(शुम्भनी) शुम्भ शोभायाम्—ल्युट् । शुम्भन्यौ शोभायमाने (द्यावा-

लोक (अन्तिसुम्ने) [अपनी] गतियों से सुख देने वाले और (महिव्रते) बड़े व्रत [नियम] वाले हैं। (देवीः) उत्तम गुणवाली (सप्त) सात (आपः) व्यापनशील इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (सुस्रुवुः) [हमें] प्राप्त हुई हैं, (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और पृथिवी लोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चल कर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥ १ ॥

(सप्त आपः) पदों का मिलान करो (सप्त सिन्धवः) पदों से-अ० ४। ६। २॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३ दथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २॥

मुञ्चन्तु। मा। शपथ्यात्। अथो इति। वरुण्यात्। उत ॥ अथो इति। यमस्य। पड्वीशात्। विश्वस्मात्। देव-किल्बिषात् ॥२॥

भाषार्थ—वे [व्यापनशील इन्द्रियां-म० १] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथ सम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमाद छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर सब प्रकार के दोषों से बचें ॥ २ ॥

यह मन्त्र आचुका है। अ० ६। ९६। २॥

पृथिवी) सूर्यभूलोकौ (अन्तिसुम्ने) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। अम गतौ—ति। सुम्नं सुखम्—निघ० ३। ६। स्वगतिभिः सुखकारिण्यौ (महिव्रते) अत्यन्तनियमयुक्ते (आपः) व्यापनशीलानीन्द्रियाणि। शीर्षण्यानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि। सिन्धवः—अ० ४। ६। २। (सप्त) अ० ४। ६। २। सप्तसंख्याकाः (सुस्रुवुः) स्रु गतौ—लिट्। अस्मान् प्रापुः (देवीः) दिव्यगुणाः (ताः) आपः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (ताः) आपः—म० १ (देवकिल्बिषात्) परमेश्वरं प्रति दोषात्। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६। ९६। २॥

सूक्तम् ११३ ॥

१-२ ॥ तृष्टिका देवता ॥ १ विराड् अनुष्टुप्; २ उष्णिक् ॥

तृष्णाविमोचनोपदेशः—तृष्णा त्याग का उपदेश ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्ट-वन्दने । उत् । अमूम् । छिन्धि । तृष्टिके ॥
यथा । कृत-द्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्या-वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तृष्टिके) हे कुत्सित तृष्णा ! (तृष्टवन्दने) हे लोलुपता की लता रूपा ! तू (अमूम्) पीड़ा को (उत् छिन्धि) काट डाल, (तृष्टिके) हे लोभ में टिकने वाली ! तू (यथा) जिससे (अमुष्मै) उस (शेप्यावते) शक्तिमान् पुरुष के लिये (कृतद्विष्टा) द्वेषनाशिनी (असः) होवे [वैसा किया जावे] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पीड़ादायिनी तृष्णा को छोड़कर ईर्षा द्वेष नाश करनेमें समर्थ होवें ॥ १ ॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ॥
परि-वृक्ता । यथा । असंसि । ऋषभस्य । वशा-इव ॥ २ ॥

१—(तृष्टिके) ञि तृषा पिपासायाम् -क । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति कप्रत्ययः । हे कुत्सिततृष्णे (तृष्टवन्दने) वदि अभिवादनस्तुत्योः-युच्, टाप् । तृष्टस्य लोलुपताया लतारूपे (उत्) उत्कर्षेण (अमूम्) कृपिचमितनि० उ० १ । ८० । अम रोगे पीडने-ऊ प्रत्ययः स्त्रियाम् । पीडाम् (छिन्धि) भिन्द्धि (तृष्टिके) ञि तृषा-क्विप्+टिक गतौ-क । तृषि लोभे टेकते गच्छति या सा तत्सम्बुद्धौ (यथा) येन प्रकारेण, तथा क्रियतामिति शेषः (कृतद्विष्टा) कृ हिंसायाम्-क्त । कृतं नाशितम् द्विष्टं द्वेषणं यया सा (असः) भवेः (अमुष्मै) प्रसिद्धाय (शेप्यावते) शेपो बलम्, स्वार्थे-यत्, टाप् । शक्तिमते पुरुषाय ॥

भाषार्थ—(तृष्टा) तू तृष्णा (तृष्टिका) लोभ में टिकने वाली (असि) है, (विषा) विषैली (विषातकी) विष से जीवन दुःखित करने वाली (असि) है। (यथा) जिससे तू (परिवृक्ता) परित्यक्ता (असत्ति) हो जावे, (इव) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष की (वशा) वशीभूत [प्रजा त्याज्य होती है, वैसा किया जावे] ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दें, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१-२ ॥ अग्निः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राक्षसनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

आ ते॑ दद्रे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥१॥

आ । ते॒ । द॒दे॒ । व॒क्षणा॑भ्यः । आ । ते॒ । अ॒हम् । हृद॑यात् । द॒दे॒ ॥
आ । ते॒ । मुख॑स्य । सम्-का॑शात् । सर्व॑म् । ते॒ । वर्चः॑ । आ । द॒दे॒ ॥१॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (अहम्) मैं ने (ते) तेरी (वक्षणाभ्यः) छाती के अवयवों से [बल को] (आ ददे) ले लिया है, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से (आ ददे) ले लिया है। (आ) और (ते) तेरे (मुखस्य) मुख के

२—(तृष्टा) म० १ । तृष्णा (असि) भवसि (तृष्टिका) म० १ । लोभे गतिशीला (विषा) अर्श आद्यच् । विषयुक्ता (विषातकी) विष+आ+तकि कृच्छ्रजीवने—अण्, ङीप्, नकारलोपः । विषेण आतङ्कति कृच्छ्रजीवनं करोति या सा (असि) (परिवृक्ता) परिवर्जिता । परित्यक्ता (यथा) येन प्रकारेण (असत्ति) शप् छान्दसः । भवसि (ऋषभस्य) श्रेष्ठस्य (वशा) वशीभूता । आयत्ता (इव) यथा ॥

१—(ते) तव (आ ददे) लिटि रूपम् । गृहीतवानस्मि (वक्षणाभ्यः) अ० २ । ५ । ५ । वक्ष रोषे—युच् । टाप् । वक्षःस्थलेभ्यः (ते) (अहम्)

(संकाशात्) आकार से (ते) तेरे (सर्वम्) सब (वर्चः) ज्योति वा बल को (आ ददे) ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधार्मिक दोषों और शत्रुओं को नाश करें ॥ १ ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । वि-आध्यः । प्र । अनु-ध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ॥
अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥२॥

भाषार्थ—(इतः) यहां से (व्याध्यः) सब रोग (प्र) बाहिर, (अनुध्याः) सब अनुताप (प्र) बाहिर और (अशस्तयः) सब अपकीर्तियां (प्रो) बाहिर ही (यन्तु) चली जावें । (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) राक्षसों से युक्त [सेनाओं] को (हन्तु) मारे और (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (दुरस्यतीः) अनिष्ट चीतनेवाली [प्रजाओं] को (हन्तु) नाश करे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में शान्ति रखने के लिये चोर डाकू आदि राक्षसों का नाश करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१-४ ॥ सविता जातवेदा वा देवता ॥ १, ४ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

(हृदयात्) (आ ददे) (आ) चार्थे (ते) (मुखस्य) (संकाशात्) आकारात् (सर्वम्) (ते) तव (वर्चः) तेजो बलं वा (आ ददे) ॥

२—(प्र) बहिर्भावे (इतः) अस्मात् स्थानात् (यन्तु) गच्छन्तु (व्याध्यः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । वि + आङ् + डुधाञ्—किं । जसि, गुणस्थाने यणादेशः । व्याधयः । रोगाः (प्र) (अनुध्याः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । अनु + ध्यै चिन्तायाम्—अङ्, टाप् । अनुतापाः (प्रो) बहिरेव (अशस्तयः) अपकीर्तयः (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) अ० ६ । २ । २ । राक्षसैर्युक्ताः सेनाः (हन्तु) नाशयतु (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (हन्तु) (दुरस्यतीः) अ० १ । २६ । २ । दुरस्य—शतृ, ङीप् । अनिष्टचिन्तिकाः प्रजाः ॥

दुर्लक्षणनाशोपदेशः—दुर्लक्षण के नाश का उपदेश ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

प्र । पत । इतः । पापि । लक्ष्मि । नश्य । इतः । प्र । अमुतः । पत ॥ अयस्मयेन । अङ्केन । द्विषते । त्वा । आ । सजामसि ॥१॥

भाषार्थ—(पापि) हे पापी ! (लक्ष्मि) लक्षण [लक्ष्मी] ! (इतः) यहां से (प्र पत) चला जा, (इतः) यहां से (नश्य) छिप जा, (अमुतः) वहां से (प्र पत) चला जा । (अयस्मयेन) लोहे के (अङ्केन) कांटे से (त्वा) तुझको (द्विषते) वैरी में (आ सजामसि) हम चिपकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्लक्षणों का सर्वथा त्याग करें। दुर्लक्षणों से दुष्ट लोग महादुःख पाते हैं ॥ १ ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् । अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभि-चस्कन्द । वन्दना-इव । वृक्षम् ॥ अन्यत्र । अस्मत् । सवितः । ताम् । इतः । धाः । हिरण्य-हस्तः । वसु । नः । रराणः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (पतयालूः) गिरानेवाला (अजुष्टा) अप्रिय

१—(प्र पत) बहिर्गच्छ (इतः) अस्मात् स्थानात् (पापि) केवलमामकभागधेयपापा० । पा० ४ । १ । ३० । पाप—ङीप्, हे दुष्टे (लक्ष्मि) लक्षेर्मुट् च । उ० ३ । १६० । लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ई, मुट् च । हे लक्षण (नश्य) अदृष्टा भव (इतः) (प्र) (अमुतः) दूरदेशात् (पत) (अयस्मयेन) लोहमयेन (अङ्केन) कण्टकेन (द्विषते) शत्रवे (त्वा) त्वाम् (आ) समन्तात् (सजामसि) षञ्ज सङ्गे सम्बन्धे च । सजामः । संबध्नीमः ॥

२—(या) (मा) माम् (लक्ष्मीः) म० १ । लक्षणम् (पतयालूः) स्पृहि-

(लक्ष्मीः) लक्षण (मा) मुझपर (अभिचस्कन्द) आ चढ़ा है, (इव) जैसे (वन्दना) बेल (वृक्षम्) वृक्ष पर । (सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [परमेश्वर !] (हिरण्यहस्तः) तेज वा सुवर्ण हाथ में रखनेवाला, (नः) हमें (वसु) धन (रराणः) देता हुआ तू (इतः) यहां से, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे [दुष्टों में] (ताम्) उसको (धाः) धर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से अधर्मरूप दुर्लक्षणों और दुष्टों से बचकर शुभ गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः । तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एक-शतम् । लक्ष्म्यः । मर्त्यस्य । साकम् । तन्वा । जनुषः । अधि । जाताः ॥ तासाम् । पापिष्ठाः । निः । इतः । प्र । हिण्मः । शिवाः । अस्मभ्यम् । जात-वेदः । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक सौ एक [अपरिमित, पापिष्ठ और माङ्गलिक] (लक्ष्म्यः) लक्षण (मर्त्यस्य) मनुष्य के (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः) जन्म से (अधि) अधिकार पूर्वक (जाताः) उत्पन्न हुये हैं ।

गृहिपतिदयि० । पा० ३ । २ । १५८ । पत गतौ, चुरादिः, अदन्तः —आलुच् । ऊङुतः । पा० ४ । १ । ६६ । ऊङ् स्त्रियाम् । पातयित्री । दुर्गतिकारिणी(अजुष्टा) अप्रिया (अभिचस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः–लिट् । अभितःप्राप (वन्दना) सू०११२ म० १ लता (इव) यथा (वृक्षम्) (अन्यत्र) अन्येषु दुष्टेषु (अस्मत्) अस्मत्तः धार्मिकेभ्यः (सवितः) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ताम्) लक्ष्मीम् । लक्षणम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (धाः) दध्याः (हिरण्यहस्तः) हिरण्यं तेजः सुवर्णं वा हस्ते वशे यस्य सः (वसु) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (रराणः) अ० ५ । २७ । ११ । ददानः ॥

३—(एकशतम्) एकाधिकशतसंख्याकाः । अपरिमिता इत्यर्थः (लक्ष्म्यः) म० १ । लक्षणानि (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (साकम्) सह (तन्वा) शरीरेण (जनुषः) अ० ४ । १ । २ । जन्मनः सकाशात् (अधि) अधिकारे (जाताः)

(तासाम्) उन में से (पापिष्ठाः) पापिष्ठ [लक्षणों] को (इतः) यहां से (निः) निश्चय करके (प्र हिण्मः) हम निकाले देते हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर! (अस्मभ्यम्) हमें (शिवाः) माङ्गलिक [लक्षण] (नि) नियम से (यच्छ) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्मता है। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे क्लेशों को मिटाकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

एताः। एनाः। वि-आकरम्। खिले। गाः। विस्थिताः-इव॥
रमन्ताम्। पुण्याः। लक्ष्मीः। याः। पापीः। ताः। अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(एताः) इन [पुण्य लक्षणों] को और (एनाः) इन [पाप लक्षणों] को (व्याकरम्) मैंने स्पष्ट कर दिया है (इव) जैसे (खिले) विना जुते स्थान [जंगल] में (विष्ठिताः) खड़ी हुई (गाः) गौओं को। (पुण्याः) पुण्य (लक्ष्मीः) लक्षण (रमन्ताम्) ठहरे रहें, और (याः) जो (पापीः)

उत्पन्नाः (तासाम्) लक्ष्मीणां मध्ये (पापिष्ठाः) अतिशयेन पापीः (निः) निश्चयेन (इतः) अस्मात्स्थानात् (प्र हिण्मः) हि गतौ वृद्धौ च। प्रेरयामः। अपसारयामः (शिवाः) मङ्गलकारिणीर्लक्ष्मीः (अस्मभ्यम्) धर्मात्मभ्यः (जातवेदः) उत्पन्नानां पदार्थानां वेदितः (नि) नियमेन (यच्छ) दाण् दाने। देहि ॥

४—(एताः) पुण्याः (एनाः) पापीः (व्याकरम्) वि+आङ्+डु कृञ् करणे—लुङ्। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३। १। ५९। इति च्लेरङ्। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७। ४। १६। इति गुणः। व्याख्यातवानस्मि (खिले) खिल कणश आदाने-क। अकृष्टदेशे (गाः) धेनूः (विष्ठिताः) विविधंस्थिताः (इव) यथा (रमन्ताम्) तिष्ठन्तु (पुण्याः) कल्याण्यः (लक्ष्मीः) लक्ष्म्यः।

पापी [लक्षण] हैं, (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य भले और बुरे कर्मों के लक्षण समझकर भलों का स्वीकार और बुरों का त्याग करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११६ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ परोष्णिक्; २ आर्च्यनुष्टुप् ॥

रोगनिवारणोपदेशः—रोग निवारण का उपदेश ॥

नमो॑ रू॒राय॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑ ।
नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥
नमः॑ । रू॒राय॑ । च्यव॑नाय । नोद॑नाय । धृ॒ष्णवे॑ ॥
नमः॑ । शी॒ताय॑ । पू॒र्व॒का॒म॒-कृत्व॑ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रूराय) घातक (च्यवनाय) पतित, (नोदनाय) ढकेलने वाले, (धृष्णवे) ढीठ [शत्रु] को (नमः) वज्र । (शीताय) शीत [समान] (पूर्वकामकृत्वने) पहिली कामनायें काटने वाले [वैरी] को (नमः) वज्र [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अति शीत खेती आदि को हानि करता है, वैसे हानि कारक शत्रु को दण्ड देना चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २५ । ४ । से करो ॥

लक्षणानि (याः) (पापीः)—म० १ । पापकारिण्यः । दुर्लक्षणानि (अनीनशम्) अ० १ । २३ । ४ । नाशितवानस्मि ॥

१—(नमः) वज्रः-निघ० २ । २० (रूराय) अ० १ । २५ । ४ । घातकाय (च्यवनाय) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४९ । च्युङ् गतौ-युच् । च्युताय पतिताय (नोदनाय) णुद प्रेरणे—युच् । प्रेरकाय । विक्षपयित्रे (धृष्णवे) अ० १ । १३ । ४ । प्रगल्भाय शत्रवे (नमः) (शीताय) अ० १ । २५ । ४ । हिमसदृशाय (पूर्वकामकृत्वने) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कृती छेदने—क्वनिप् । नेड्वशि कृति० । पा० ७ । २ । २८ । इट् प्रतिषेधः । प्रथमाभिलाषाणां कर्तित्रे । छेदकाय वैरिणे ॥

यो अ॒न्ये॒द्यु॑रुभय॒द्यु॑र॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥ २ ॥

यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒य॒-द्युः । अ॒भि॒-एति॑ । इ॒मम् । म॒ण्डूक॑म् । अ॒भि । ए॒तु॒ । अ॒व्र॒तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा और (उभयद्युः) दो अन्तरा [ज्वर समान] (अभ्येति) चढ़ता है, (अव्रतः) नियमहीन वह [रोग] (इमम्) इस (मण्डूकम्) मेडक [समान टर्राने वाले आत्मश्लाघी पुरुष] को (अभि एतु) चढ़े [ऐसे ज्वर समान शत्रु पर वज्र होवे-म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ज्वर आदि रोग कुनियमियों को सताता है, वैसे धर्मात्माओं के दुखदायी शत्रु लोग दण्डनीय हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः । मा त्वा॒ के चि॒द्वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनोऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥१॥

आ । म॒न्द्रैः । इ॒न्द्र॒ । हरि॑-भिः । या॒हि । म॒यूर॑रोम-भिः ॥ मा । त्वा॒ । के । चि॒त् । वि । य॒म॒न् । विम् । न । पा॒शिनः॑ । अति॑ । धन्व॑-इव । तान् । इ॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन् ! (मन्द्रैः) गम्भीरध्वनियों से

२—(यः) ज्वरः (अन्येद्युः) सद्यः परुत् परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । अन्य—एद्युस् प्रत्ययः । अन्यस्मिन्नहनि (उभयद्युः) द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । २२ उभय—द्युः प्रत्ययः । उभयोर्दिनयोः, अतीतयोरिति शेषः (अभ्येति) अभिगच्छति (इमम्) प्राणिनम् (मण्डूकम्) अ० ४ । १५ । १२ । भेक-तुल्यशब्दायमानमात्मश्लाघिनं पुरुषम् (अभ्येतु) अभिगच्छतु (अव्रतः) अ० ६ । २० । १ । भ्रष्टनियमः ॥

१—(आ याहि) आगच्छ (मन्द्रैः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ ।

वर्तमान (मयूररोमभिः) मोरोंके रोम [समान चिकने, विचित्र रंग, दृढ़, विजुली से युक्त रोमवस्त्र] वाले (हरिभिः) मनुष्यों और घोड़ोंके साथ (आ याहि) तू आ। (त्वा) तुझको (के चित्) कोई भी (मा वि यमन्) कभी न रोकें (न) जैसे (पाशिनः) जालवाले [चिड़ीमार] (विम्) पक्षी को ; तू (तान् अति) उनके ऊपर होकर (इहि) चल (धन्व इव) जैसे निर्जल देश [के ऊपर से] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये चतुर विज्ञानियों के बनाये हुये कवच आदि से सजे हुये सेना, अश्व, रथ आदि के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३ । १ । ४५; यजुः०-२० । ५३; साम० पू० ३ । ६ । ४ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१ ॥ कवचसोमवरुणा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

मर्माणि । ते । वर्मणा । छादयामि । सोमः । त्वा । राजा । अमृतेन । अनु । वस्ताम् ॥ उरोः । वरीयः । वरुणः । ते । कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु । देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

मदि स्तुतौ—रक् । गम्भीरध्वनिभिर्वर्तमानैः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (हरिभिः) मनुष्यैरश्वैश्च (मयूररोमभिः) मीनातेरूरन् । उ० १ । ६७ । मीञ् हिंसायाम्—ऊरन् । नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्० । उ० ४ । १५१ । रु शब्दे—मनिन् । मयूररोमसदृशरोमाणि कवचवस्त्राणि येषां तैः (मा) निषेधे (त्वा) त्वां राजानम् (के चित्) केऽपि शत्रवः (वि) विविधम् (यमन्) यमु उपरमे लेट्यडागमः । नियच्छन्तु । प्रतिबध्नन्तु (विम्) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः—इण्, डित् । पक्षिणम् (न) उपमार्थे (पाशिनः) जालवन्तो व्याधाः (अति) अतीत्य (धन्व) अ० ४ । ४ । ७ । निर्जलं मरुदेशम् (इव) यथा (तान्) शत्रून् (इहि) गच्छ ॥

भाषार्थ—[हे शूरवीर !] (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मों को (वर्मणा) कवच से (छादयामि) मैं [सेनापति] ढांकता हूं, (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा [कोशाध्यक्ष] (त्वा) तुझको (अमृतेन) अमृत [मृत्यु निवारक, शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, अन्न, औषध आदि] से (अनु) निरन्तर (वस्ताम्) ढके। (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष [चतुर मार्गदर्शक] (ते) तेरे लिये (उरोः) चौड़े से (वरीयः) अधिक चौड़ा [स्थान] (कृणोतु) करे, (जयन्तम्) विजयी (त्वा अनु) तेरे पीछे (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (मदन्तु) आनन्द पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वाधीश मुख्य सेनापति अधिकारियों द्वारा योद्धाओं को समस्त आवश्यक सामग्री देकर उत्साहित करे, जिससे सब वीर आनन्दध्वनि करते हुये विजयी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ७५ । १८; यजुः०—१७ । ४६ ; साम० उ० ६ । ३ । ८ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगत श्रावणमास परीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित
क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे शुक्लपञ्चम्यां तिथौ विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि
श्रीराजराजेश्वरपञ्चमजार्जमहोदयस्य
सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आश्विनकृष्णा १२ संवत् १९७३ ता० २५ सितम्बर १९१६ ॥

१—(मर्माणि) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । मृङ् प्राणत्यागे—मनिन् । शरीरसन्धिस्थानानि (ते) तव (वर्मणा) कवचेन (छादयामि) संवृणोमि (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः कोशाध्यक्षः (अमृतेन) मृत्युनिवारकेण शस्त्रास्त्रवस्त्रान्नौषधादिना वस्तुना (अनु) निरन्तरम् (वस्ताम्) आच्छादयतु (उरोः) उरुणः । विस्तृतात् (वरीयः) उरुतरं (स्थानम्) (वरुणः) श्रेष्ठो मार्गदर्शकः (कृणोतु) करोतु (जयन्तम्) अ० ६ । ६७ । ३ विजयिनम् (त्वा) (अनु) अनुलक्ष्य (देवाः) विजिगीषवो वीराः (मदन्तु) हृष्यन्तु ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियाँ

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ प्राप्त २० जुलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदीजी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करे। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुतही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B. Sc., L L. B. उप मन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला । इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त । आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३ ।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्य समाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

1451०

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें। निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महाशय **मुन्शीरामजी**-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनिवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यंत आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**-कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनयता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**--मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६—१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६— लेखक श्रीयुत पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पण्डित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पण्डित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्व वेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्व वेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.........इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पण्डित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पण्डित क्षेमकरण दास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्हों ने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, Letter No. 624 date 6th February 1913.*

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् *It has been sanctioned for use of the library* and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan.

Letter dated *March 25th, 1914.*

The Atharva Veda Bhashya :—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. *I wish I had a portion of your will-*power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

—:o:—

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18. 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship, The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre—eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public atention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.